भागवत दर्शन

खण्ड ६९

गीतावार्ता (१)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृतं वै प्रभुदत्तेन भागवतार्थ सुदर्शनम् ॥

—:०:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

—:०:—

प्रकाशक—
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

—:❀:—

प्रथम संस्करण] वैशाख—२०२३ विक्र० [मू० १-२५ पै०
२००० प्रति

विषय सूची

॥ श्रीहरिः ॥

आत्म निवेदन

जानामिधर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्य धर्मं न च में निवृत्तिः
त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियोक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ ❀

छप्पय

हे माधव मनहरन मदन मोहन मदहारी।
हे अनाथ के नाथ कृपालो कुञ्जविहारी॥
सुखकर तुम नहिँ लगत विषय सुख सुखकर लागैं।
ग्राम्य गीत नित सुनत करन गीता सुनि भागैं॥
आपु नचावत नाच जस, नाचौं तस मानों घरूँ।
जानत धरम अधरम सब, अवश कराओ सो करूँ॥

६८ वे खण्ड में हमने सूचना दी थी, कि अब भगवान् के ऊपर है, वे लिखावेंगे तो लिखेंगे नहीं तो पाठक भागवत दर्शन

❀ मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे स्वतः निवृत्त नहीं हो सकता। हे हृषीकेश! हृदय में बैठ कर तुम जिस काम में मुझे लगा देते हो, उसी को करता रहता हूँ।

को यहीं समाप्त समझें। तब से जीवन में बड़ी चहल-पहल रही, नटवर ने विविध प्रकार के नाच नचाये,विविध भाँति के बाने बदलवाये। जैसा उनका पार्श्वभाग से संकेत पाते गये, वैसा ही वेश बनाकर नाचते गये। दूसरा कुछ करने को सोचते भी तो सोच नहीं सकते थे, क्योंकि हमारे हृदय का सूत्र तो सूत्रधार के कर कमलों में था। वे जैसा संकेत करते वैसा ही नाच नाचना पड़ता। वैसा ही वेष बनाना पड़ता। वे इस संसार रूपी रङ्ग मंच पर प्रकृति नटी के साथ विचित्र-विचित्र अभिनय कराते हैं और दर्शकों को मंत्र मुग्ध बना लेते हैं। जीव अवश होकर उनके संकेत के सहारे ताल में ताल मिलाकर कुछ बेताल के ही नृत्य कर रहे हैं। कुछ को हँसा रहे हैं, तो कुछ को रुला रहे हैं। कुछ को बता रहे हैं, तो कुछ से छुपा रहे हैं,कुछ को कार्यों में व्यस्त कर रहे हैं, तो किसी को कर्मों से उपरत कर रहे हैं। सब रूपों से वे ही क्रीड़ा कर रहे हैं, किन्तु वे कर्तृत्व का अभिमान दूसरों के सिर पर लाद देते हैं। वह कहता है, ऐसा मैंने किया, मैं शत्रुओं को मारूंगा, मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मेरे समान कौन हो सकता है ? इसी अज्ञान अंधकार में जीव भटक रहा है। न कोई किसी को मार सकता है, न जिवा ही सकता है। जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जैसे भी मृत्यु आनी होगी, वह अवश्य आवेगी, उसे कोई टाल नहीं सकता। जिसे बचना होगा उसे विविध उपायों से कोई मार नहीं सकता। वह मृत्यु के मुख से भी बचकर आ जायगा। विधि के विधान को अन्यथा करने की किसी में शक्ति नहीं। उसे कोई टाल नहीं सकता।

हरिद्वार में एक सेठ केशवदेवजी पोद्दार रहते थे। वे बड़े ही धर्मनिष्ठ आचार विचारवान् सन्त हृदय के भगवत् भक्त सेठ थे।

हमसे बड़ा स्नेह रखते थे। हम जब भी हरिद्वार जाते उन्हीं के अतिथि होते। वे यथा शक्ति हमारी सेवा करते।

उन दिनों उनके पास एक बड़ी मोटर गाड़ी थी। उसे लेकर एक दिन हम ऋषिकेश गये। हमारे साथ वेद बन्धु, भगवन् तथा और भी ४, ५ बन्धु थे। हम कीर्तन करते हुए रात्रि में ऋषिकेश से लौट रहे थे। ऋषीकेश से कुछ ही मील आगे चले होंगे कि हमें सड़क के किनारे बैठा हुआ एक शेर या चीता मिला। पास में ही सड़क पर गौ की एक बछड़ी चर रही थी। रात्रि में वह सड़क पर अपनी माता से बिछुड़कर चली आयी होगी।

शेर ने जब हमारी मोटर का प्रकाश देखा तो उस बछड़ी को उठाकर वह सड़क के नीचे कूद पड़ा। मेरी दृष्टि तो उस पर पड़ी नहीं मेरे साथी लड़कों ने शेर को बछड़ी ले जाते हुए देख लिया। हमने तुरन्त वहाँ मोटर खड़ी कर दी। और चालक से कहा—जिधर सिंह कूदा है, उधर ही तेज प्रकाश करके मोटर को बढ़ा दो। चालक भी साहसी था, उसने उधर ही मोटर बढ़ा दी। तेज प्रकाश में सिंह चीते आदि की आँखों में चका-चौंध हो जाता है, वे प्रकाश को सहन न करके भाग जाते हैं। मोटर के प्रकाश के कारण शेर भग गया। मृत्यु के मुख से निकली बछड़ी बिलबिला रही थी, भय के कारण थर-थर काँप रही थी। लड़कों ने बछड़ी को उठाकर मोटर में रखा, उसे हरिद्वार ले आये। उसकी चिकित्सा की अच्छी हो गयी।

घटना तो छोटी सी ही थी, किन्तु अब आप इस पर विचार कीजिये। बछड़ी के मरने में कोई संदेह ही नहीं था। काल के मुख में जा चुकी थी। शेर अपनी दाढ़ों से उठा ले गया था, उसे भी विश्वास हो गया था, मैं मर चुकी। हम कभी स्वप्न में भी

यह सोचकर नहीं चले थे, कि हमें ऐसी दुर्घटना का सामना करना पड़ेगा। भगवान् को उस बछड़ी को बचाना था। यदि एक मिनट की देर से भी हम आते तो उसका अंत हो जाता। यदि हम शेर को देखकर भयभीत होकर मोटर को भगा ले जाते तो भी उसका अन्त हो जाता। यदि मोटरचालक साहस न करता तब भी उसके बचने में संदेह था, किन्तु भगवान् को जैसा कराना होता है, जिसे निमित्त बनाना होता है, जिसे बचाना होता है, उसके अनुरूप ही वैसे बानिक बन जाते हैं। जो नहीं होना होता है, जिसकी मृत्यु निकट आ जाती है, उसके लिये वैसा ही प्रतिकूल वातावरण बनता है। भवितव्यता श्रीरामजी के अनुकूल थी, उनके अनुकूल वैसा हो वातावरण बन गया। चंचल स्वभाव के रीछ बानरों की सेना उन्हें मिल गयी, जिनके लिये न गणवेष की आवश्यकता और न भोजन की तथा अस्त्र शस्त्रों की। पेड़ों से तोड़कर फल खालो दाँत नख पत्थरों और वृक्षों से युद्ध करलो।

भवितव्यता रावण के प्रतिकूल थी। सुवर्ण के सुदृढ़ लंका के रहते हुए, रावण, कुंभकर्ण तथा मेघनाद जैसे विश्वविजयी वीरों के रहते हुए, सर्व साधन सुसज्जित सेना के रहते हुए भी सैनिकों में लड़ने का उत्साह नहीं रहा। घर का सगा भाई समय पर उसे छोड़कर शत्रु से जा मिला। इसीलिये कहते हैं। होनी को कोई टाल नहीं सकता। भवितव्यता होकर ही रहती है। भगवान् को जिससे जो काम कराना होता है, उससे वे सब प्रकार के साधन न रहने पर भी करा ही लेते। इसमें ननुनच करने से काम चलेगा नहीं। इसीलिये भगवान ने अर्जुन से कहा है—

यदहंकार माश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि॥

अर्थात् हे अर्जुन ! यदि अहंकार के वशीभूत होकर तुम कहो कि मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा तो यह तुम्हारा मिथ्या प्रयत्न है। प्रकृति तुम्हें युद्ध में जैसे बने तैसे नियुक्त कर ही देगी, तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा।

जब भागवती कथा आरम्भ की थी, तो सोचा था, ५०-६० खण्डों में समाप्त हो जायगी। जब इसका रूप देखा तब तो हम समझ गये श्रीमद्भागवत में अठारह सहस्र श्लोक हैं। यदि एक-एक श्लोक पर एक ग्रन्थ लिखा जाय, तो अठारह सहस्र ग्रन्थ भी अपर्याप्त हैं। भगवान् व्यास के एक श्लोक के पूरे भाव को एक ग्रन्थ मे भली भाँति व्यक्त कर भी सके हैं या नहीं इसमें संदेह ही रह जायगा। तो फिर १०५ भागों मे कैसे समाप्त हो सकता है। फिर सोचा—१०८ भाग रहे तो ठीक है। इसलिये १०८ का ढिँढोरा पीटने लगे। पूरी एक माला बनाने की इच्छा हुई।

जब इसके ६८ भाग निकल गये, तो फिर मन में ऊब आयी। सबसे अधिक ऊब तो तब आती है, जब प्रेस के सम्मुख आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है। कुछ पुस्तकें तो उपहार आदि में बँट जाती हैं। कुछ की न्यौछावर भी आती है, वह गो ब्राह्मण हिताय में व्यय हो जाती है। फुटकर बिक्री के दाम आते हैं वे नौंन तेल लकड़ी में लग जाते हैं। फिर पुस्तक छपाने को यजमान खोजने पड़ते हैं। मेरा तो एक ही यजमान है श्यामसुन्दर। वह भोगराग मे ऐसा तल्लीन रहता है, कि उसे इन संसारी व्यवहारों से कोई प्रयोजन ही नहीं। मेरे सामने वह विविध रूपों से आता है, तब मैं झंझट छोड़कर लेखन कार्य से उपरत हो जाता हूँ, उदासीन बन जाता हूँ, दूसरे कामों में लगा दिया जाता हूँ, उसी की धुना धुनी में व्यस्त हो जाता हूँ।

आज से ५ वर्ष पूर्व सम्वत् २०१७ को मैंने ६८ वें खण्ड की

भूमिका में लिखा था, कि अब निश्चय नहीं कि आगे के खण्ड लिखे भी जायँगे या नहीं। न लिखे जायँ तो पाठक ६८ खण्डों में ही भागवती कथा की समाप्ति समझ लें।

इन पाँच वर्षों में इधर-उधर भटकता रहा। श्रीबद्रीनाथ की यात्रा की मुक्तिनाथ गया। श्रीधाम वृन्दावन में वर्ष डेढ़ वर्ष रहा। गोव्रत किया। और भी जो उस वृन्दावन विहारी ने कराया किया। मुझे निमित्त बनाकर उसने राधा रानी के क्षेत्र में, कालिन्दी के परम पावन पुलिनों में, मानसरोवर की सीमा में पुलिन वास मेला लगवाया। अपने यन्त्र से यन्त्री जो चाहे काम ले।

अब जब ये सब लीलायें करा लीं। तब कहते हैं अब आगे लिखो। क्या लिखूँ जी? कहते हैं गीतावार्ता लिखो। मैं कहता हूँ, बाबा लिखूँ तो सही किन्तु कोई सुनने सुनाने वाला पढ़ने पढ़ाने वाला हो तब न? अब तो गीता भागवत पर लिखना अरण्य रोदन है। कोई सुनने वाला नहीं पढ़ने वाला नहीं। अरण्य रोदन से लाभ क्या? व्यर्थ प्रलाप से प्रयोजन क्या होगा?

वे कहते हैं—प्रयोजन हो न हो? लाभ हानि की चिंता मत करो। "कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन।" तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल की इच्छा रखो ही मत। निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर सतत कार्य में निमग्न बने रहो।

मैं तो अवश हूँ, उनका क्रीतदास हूँ, आज्ञाकारी अधम सेवक हूँ। जिस काम में लगा देते हैं, उसी में लग जाता हूँ सो, उन्हीं की मूक प्रेरणा से यह गीतावार्ता आरम्भ हुई है। कब समाप्त होगी? कितने खंडों में पूरी होगी, क्या महीने के महीने निकला करेगी? इन सब बातों का उत्तर समय ही देगा। इस समय त

इतना ही समझो भागवत दर्शन या भागवती कथा के आगे के खंड अब पुनः प्रकाशित होने लगे हैं। और विशेष जानकारी प्राप्त करनी होवे "व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन भूसी (प्रयाग) के पते से प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, तो यह भागवत दर्शन का ६९ वाँ खंड है। इस खंड की पुरानी भूमिका ६८ वें खंड के अंत में छप्पा दी थी, उस समय ६९ वाँ खंड छपेगा या न छपेगा, इसका कोई पता नहीं था। यह भूमिका सं० २०१५ में लिखी गई थी। हमारे बहुत से पाठक पाठिकायें भूमिका प्रिय ही है, ६८ वें खंड के अंत में वह इसीलिये छपा दी थी, कि ६९ वाँ खंड नहीं तो ६९ वें खंड की भूमिका ही वे पढ़ले, किन्तु काल स्वरूप काले कृष्ण की कैसी क्रीड़ा है, वे कब किससे क्या कराना चाहते हैं, इसका यथाथ मर्म कोई जानता नहीं। जब काल रूप कृष्ण की कृपा से ६९ वें खण्ड का छपने का काल आ गया, तो ६९ वें खण्ड में यह भूमिका भी दी जाती है। जब ६८ वाँ खण्ड पुनः छपेगा तब उसमें से यह भूमिका निकाल दी जावेगी। काल की कमनीया क्रीड़ा का कुछ कौतुक देखना हो तो आगे "कालाय तस्मैनमः" पढ़ें।

छप्पय

देश देशमें दयित दया के दृश्य दिखावें।
कृष्ण काल के काल काल को रूप बनावें॥
कहूँ प्रलय करवाय स्वयं जीवनि संहारें।
कहूँ कृपा करि काल बदनतें जीव निकारें॥
जहँ जैसे जाते जबहिँ, करवावें जो काज हैं।
तहँ तैसे ताते तबहिँ, ततकालहि बनि जात हैं॥

पद

काल को उदर वड़ोई भारी।
जामें सवरों विश्व समावै पशु पच्छी नर नारी॥
प्रलय काल में सव सो जावें जल थल अरु नभ चारी।
अंडज पिंडज स्वेदज उद्भिज सब ही को हित कारी॥
पुनि प्रविसें निजनिज जोनिनिमें करमनिकी गति न्यारी।
जाको जैसो करम तासुने तैसी देही धारी॥
भोग करैं करमनिको प्रानी, फल तिनि सुख दुख कारी।
"प्रभु' तुम्हरी मोहक अति लीला वार वार वलिहारी॥

संकीर्तन भवन, भूसी (प्रयाग)
मार्गशीर्ष शु० ३।२०२२ वि० — प्रभुदत्त

कालाय तस्मै नमः

(६६ वें खण्ड की भूमिका)

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय यदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥[१]

(श्री भा० १० स्क० १६ अ० ४१ श्लो०)

छप्पय

कृष्ण काल बनि करें कलित क्रीड़ा सुखकारी ।
भव्य भाव भरि उतरि अवनि पै भवभयहारी ॥
भक्तनि संसृति मेंटि अभक्तनि नाच नचावें ।
करि विनोद विश्वेश जगत में हँसें हँसावें ॥
उतपति थिति लय करहिँ प्रभु, भिन्न भिन्न जिनि नाम हैं ।
कालरूप तिनि कृष्ण पद, पदुमनि मोहिँ प्रनाम हैं ॥

विश्वेश्वर प्रभु का कोई एक रूप नहीं। वे बहुरूपिया हैं, असंख्य रूप हैं "अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।" भगवान्

---

१ नागपत्नियाँ भगवान् की स्तुति करती हुई कहती हैं—"प्रभो ! आप काल स्वरूप हैं, कालशक्ति के आश्रय हैं, कालके जो अवयव कला-काष्ठा तथा सृष्टि प्रलय तक का काल उस सबके साक्षी हैं, आप विश्व-रूप हैं, विश्व के साक्षी आप हैं, विश्व के कारण तथा कर्ता भी आप ही हैं ।"

के अनेक रूपों में उनका एक रूप "काल" भी है। जब भगवान् ने कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाया तो अर्जुन अत्यंत घबरा गये, वे भयभीत होकर पूछने लगे—"हे देवताओं में श्रेष्ठ ! आप हैं कौन ? आप करना क्या चाहते हैं ? आपका तो बड़ा उग्ररूप है ? अपना परिचय तो मुझे दीजिये ?"

इस पर भगवान् ने अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं काल हूँ।"

जब हम भगवान् को काल रूप में समझने लगेंगे, तो हमें किसी भी घटना से न दुःख होगा और न विस्मय, हमें यह सब काल भगवान की क्रीड़ा दिखायी देगी। इस सम्बन्ध में एक कहानी है। किसी भक्त ने भगवान् से पूछा—"प्रभो ! आप करते क्या हैं ?"

भगवान् ने कहा—"मैं क्रीड़ा करता रहता हूँ।"

भक्त ने पूछा—"क्या क्रीड़ा करते हैं नाथ ! किससे क्रीड़ा करते हैं ? और क्यों क्रीड़ा करते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"क्रीड़ा खिलौनों से होती है, ये समस्त चराचर जीव ही मेरे खिलौने हैं, क्रीड़ा में क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। क्रीड़ा क्रीड़ा के ही लिए होती है, विनोदके लिए मनोरंजन के लिए। मेरी क्रीड़ा को विनोद मनोरंजन भी नहीं कह सकते। जिसे विषाद हो वह विनोद में प्रवृत्त हो, जिस के मन में खेद हो वह मनोरंजन की इच्छा करे। मैं तो वैसे ही खेलता रहता हूँ, लीला करता रहता हूँ, मेरा स्वभाव ही लीला करने का है। मैं लीलाधारी हूँ बहुरूपिया हूँ, विविध रूप रख लेता हूँ, जीव अपने को खिलौना न मान कर जब स्वयं कर्ता बन जाते हैंऔरमेरेकामों में निजत्व का आरोप करके जब बहुत रोने लगते हैं, तब भी मेरा

विनोद होता है, सुख में हँसने लगते हैं, तब भी मेरा विनोद होता है। जैसे बच्चे खिलौने से प्यार करते हैं तब भी प्रसन्न होते हैं और उसे उठाकर पटक देते हैं, फट से फोड़ देते हैं, तो फोड़ने में भी उन्हें आनन्द आता है। इसी प्रकार सभी प्रकार की चेष्टायें मेरे मनोविनोद का साधन हैं। चलो मैं कैसे क्रीड़ा करता हूँ तुम देखो।

यह कहकर भक्त और भगवान् चल दिये। कहना न होगा दोनों अदृश्य रूपसे चले। आगे चलकर देखा नदी में एक नौका आ रही है, भगवान् तुरन्त सर्प बनकर नौका में चढ़े सर्प को देखकर सभी यात्री भयभीत हो गये नौका उलट गयी। सब जल में डूब गये। भगवान् हँस पड़े। भक्त ने लोगों के मुख से सुना—सब का काल आ गया था।" किन्तु कहने वाला यह नहीं समझ सका कि काल रूप में भगवान् ही आते हैं।

आगे चल कर देखा दो सगे भाई कहीं से आ रहे हैं। दोनों ही राज कर्मचारी थे, भगवान् तुरन्त मोहिनी रूप रखकर उनके पीछे लग लिए। दोनों के ही मन में तूफान उठने लगा। प्रश्नों की झड़ी लग गयी। किन्तु रंगीली मोहिनी तो बड़ी लजीली भी थी। कटाक्ष उसके ऐसे पैने थे कि समस्त अस्त्रशस्त्र उसके सामने कुंठित हो जाते थे। सब प्रश्नों के अनन्तर उसका छोटा-सा संक्षिप्त उत्तर था। "मैं मातृ-पितृ विहीना कुमारी कन्या हूँ, तुम में से कोई भाई मुझे आश्रय देकर अपनी जीवनसंगिनी बना लो जिससे मेरा निर्वाह हो जाय। इतना सुनना था कि होने लगा दोनों भाइयों में युद्ध। पहिले तो वाक्युद्ध हुआ। "छोटा कहता-मैंने पहिले इसे देखा है, मन से वरण किया है, अब यह तुम्हारी पुत्री के समान है।" बड़ा कहता—"मेरे रहते तुझे विवाह करने का अधिकार ही

नहीं, मैं बड़ा हूँ मैंने इसे पहिले ही वरण कर लिया है, यह तेरी माता के समान है"। वाक्युद्ध के अनन्तर शस्त्र युद्ध आरम्भ हुआ। एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। दोनों ही मर कर धराशायी हुए। लोग कह रहे थे—"यह काल रूप कहाँ से आ गयी। बेचारे दोनों सगे भाई इसीके कारण काल कवलित हुए।" वे लोग यह नहीं जानते थे कि ये काल रूपमें भगवान् ही थे।

आगे चल कर देखा कि कुछ लोग घोर वन में यात्रा कर रहे थे। भगवान् सिंह का रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट हो गये। कुछ तो सिंह को देखते ही भयभीत होकर मर गये, कुछ भाग कर पेड़ पर चढ़ गये, कुछ सिंह के पंजों में फँसकर मर गये। जो बच कर भग गये थे वे कह रहे थे—"सिंह क्या था, साक्षात् काल ही था।" काल तो था ही किन्तु इतना वे और जान जाते कि ये काल रूप में भगवान् ही हैं, तो उन्हें दुःख या विस्मय नहीं होता।"

इस प्रकार भगवान् कहीं शस्त्रधारी बनकर, कहीं वधिक बन कर, कहीं अग्नि बनकर, कहीं विप बनकर और कहीं रोग बनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। हम कह तो देते हैं यह सब काल की क्रीड़ा है, किन्तु अन्तर इतना ही रह जाता है, कि हम यह नहीं समझते कि काल भगवान् का ही रूप है। रामायण में, महाभारत में, भागवत में तथा अन्यान्य वेद शास्त्र पुराण तथा इतिहासों में सर्वत्र काल भगवान् की ही क्रीड़ा का वर्णन है।

संसार के समस्त कार्य काल पाकर ही होते हैं। काल पाकर ही सरदी होती है, काल से ही गरमी होती है, काल पाकर ही बालक से युवक और युवक से वृद्ध होते हैं, काल पाकर ही निर्धन से धनी और धनी से निर्धन बन जाते हैं। एक काल वह होता है,

कि सब लोग बिना कहे आदर करने लगते हैं, सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है, फिर ऐसा काल आ जाता है, कि लोग सामने ही अपमान करने लगते हैं और उस कड़वे घूँट को भी इच्छा न रहने पर भी हँसते-हँसते पीना पड़ता है।

अर्जुन का एक वह भी काल था, कि जिन्हें मनुष्यों की तो बात क्या, समस्त देवता असुर मिल कर भी युद्धमें नहीं जीत सकते थे। उन अमोघ अस्त्र-शस्त्रधारी भीष्म, द्रोण तथा कर्णको उन्होंने युद्धमें सरलता से जीत लिया। कितने करोड़ अरब असंख्य बाण उसके ऊपर छोड़े गये। कोई भी दिव्य से दिव्य अस्त्र-शस्त्र उसे क्षति न पहुँचा सका। फिर एक दिन ऐसा भी काल आया कि उसी विश्वविजयी अर्जुन को,किसी शूरवीर बलवान् योद्धा ने नहीं दिव्य अस्त्रों से नहीं। साधारण लाठियों से-वनवासी दस्यु धर्मी लुटेरे गोपों ने जीत ही नहीं लिया भगवान् की पत्नियों को भी उनके देखते-देखते वे छीनकर ले गये और अर्जुन उनका कुछ भी नहीं कर सके। तभी तो किसी ने कहा है।

पुरुष बली नहिँ होत है, काल होत बलवान्।
भीलनि लूटी गोपिका, वहि, अरजुन वहि बान॥

धनुष बाण से क्या होता है, काल तो उनके विपरीत हो गया था। अनुकूल काल होने पर शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, दुर्बल भी सबल हो जाते हैं, वही काल जब विपरीत हो जाता है, तो अपने भी पराये हो जाते हैं, बलवान् भी निर्बल हो जाते हैं। काल ऐसा बली है, कि इसके सामने किसी की भी नहीं चलती। यह बलियों से भी बली है। भगवान् का रूप ही है।

जब दैत्यराज महाराज बलि के तीनों लोक के राज्य को भगवान् वामन ने अपने दो पगों में नाप लिया और तीसरे

पग के लिये वे उसे बाँधने लगे, तब सब दैत्य भगवान् वामन को मारने दौड़े। उस समय दैत्यों को प्रहार करने से रोकते हुए महाराज बलि ने बड़े ही मार्मिक वचन कहे उन्होंने कहा—"हे दैत्य सेनापतियों! आप लोग देखना भगवान् पर तथा उनके पार्षदों पर प्रहार मत करना। यह समय हमारे अनुकूल नहीं है। ये काल भगवान् ही समस्त प्राणियों को सुख अथवा दुख देते हैं। जब जैसा समय होता है तब वैसे ही बानक बन जाते हैं। काल देवता को कोई अपने पुरुषार्थ से जीतना चाहे तो यह असंभव है। देखो, एक समय था कि ये काल भगवान् हमारे अनुकूल थे, तब हमने समस्त देवताओं को चुटकी बजाते जीत लिया, तीनों लोकों का राज्य प्राप्त कर लिया, उस समय काल भगवान् देवताओं की अवनति और हमारी उन्नति के हेतु थे। आज वे देवताओं के अनुकूल हैं हमारे प्रतिकूल हैं अब आप चाहो मंत्री, बुद्धि दुर्ग, मंत्र, औषधि सामदामादि उपायों से इन काल भगवान् को जीत ले तो असंभव है। ये ही पार्षद जो आज वामन भगवान् के सामने अस्त्र शस्त्र लिये तनकर खड़े हैं, तुमने अनुकूल काल होने पर इन्हें अनेकों बार जीत लिया था ये युद्ध से भागे थे। आज काल इनके अनुकूल है अब तुम इन्हें नहीं जीत सकते। इसलिये अनुकूल काल का प्रतीक्षा करो। काल भगवान् हमारे अनुकूल हो जायगे तो एक दिन हम इन्हें फिर जीत लेगे।*

---

* यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये।
तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान्॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम्।
स एव भगवानद्य वर्तते तद् विपर्ययम्॥

दैत्यराज परम भगवत्भक्त बलिके इन वचनों से पता चलता है, कि काल के सम्मुख कोई भी उपाय, कोई भी युक्ति, कोई भी भाव ठहर नहीं सकते। काल ही सब कुछ कराते है, काल ही खेल खिलाते हैं काल ही फलों को पकाते हैं, काल ही क्रिया कराते हैं काल ही प्रवृत्त कराते हैं, और काल ही निवृत्ति की ओर ले जाते हैं। इसीलिये कविने कहा है।

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥

समस्त शास्त्र, समस्त महापुरुषों के जीवन और समस्त अवतार चरित हमें यही शिक्षा देते हैं, कि काल की शक्ति दुर्निवार है। एक काल वह भी होता है कि हम अपने प्रेमी को विना देखे एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकते, फिर एक काल ऐसा भी होता है। कि समीप रहते हुए भी हम उससे मिल नहीं सकते। यह काल की कैसी क्रूर विडम्बना है। रामजी ने यही तो सोचकर किष्किन्धा में रोते रोते लक्ष्मण से कहा था—"भैया! लक्ष्मण! एक वह भी काल था कि वैदेही और हमारे हृदय के बीच में एक हार आ जाता था, तो हम

बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः।
सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः।
दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः॥
एतान्वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति।
तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते॥
(श्री० भा० ८ स्क० २१ अ० २० से २४ श्लो०)

उस हार के व्यवधान को भी सहन नहीं कर सकते थे। आज मेरे और वैदेही के बीच में कितने नगर, देश, वन, पर्वत और समुद्र हैं उनके अन्तरायको भी हम सहन कर रहे हैं। काल की *कैसी कुटिल क्रीड़ा है*

मैंने किसी रामायण में तो आज तक यह प्रसंग पढ़ा नहीं किन्तु अपने बाल्यकाल में यह कथा सुनी थी, वनवासी कोल भीलों के लोकगीतों में यह प्रसङ्ग आता है, सीताजी की एक ननद थी उस ननद का क्या नाम था। रामजी की एक बहिन महाराज दशरथ की किसी अन्य रानी से शान्ता तो थीं, किन्तु वे ऋषि पत्नी थीं शृङ्गी मुनि से उनका विवाह हुआ था। वे ऐसा नहीं कर सकतीं। कोई दूसरी ननद थी। उसने एक दिन जनकनन्दिनी से पूछा—"भाभी ! तुम इतने दिनों तक *लंका में रहीं; यह तो बताओ रावण कैसा था ?"*

मैथिली ने कहा—"जीजी ! अब तुम्हें कैसे बताऊँ वह बड़ा राक्षस था उसे देखकर ही डर लगता था।"

उसने बहुत आग्रह किया, तब सीताजी ने भीत पर एक रावण का चित्र बना दिया। दैवयोग से उसी समय रामजी वहाँ आ गये। महारानी जानकी सहम गईं। तब उसने कहा—"देखो भैया ! भाभी का रावण के प्रति कैसा प्रेम है कि अब तक वे उसका चित्र बनाती रहती हैं। यह बात सम्पूर्ण महल में और नगर में फैल गयी। विवश होकर भगवान ने *सीताजी को अपने घर से निकाल दिया। वे गंगाजी के कछारों* में भटकती रहीं। वहीं किसी नाले में उनके दो पुत्र हुए। उन पुत्रों को गोदी में लिये वे जंगलों से फल तोड़कर पेड़ों के नीचे रह कर निर्वाह करती थीं। अकस्मात् एक दिन आखेट

करते हुए रामजी वहाँ पहुँच गये। अत्यन्त कृशगात्र, मलिन वस्त्र पहिने धूप से काली पड़ी, अपनी प्राणप्रिया को राघवेन्द्र पहिचान गये। वे उनकी ओर दौड़े। वनबासिनी सीता ने कहा—"राजन! आप मेरा स्पर्श न करें। अब मैं आप के स्पर्श करने योग्य रही नहीं। मुझे कलंक लगा है, मुझ कलंकिनी के स्पर्श करने से आपके विमल यश में धब्बा लगेगा। मैं चाहती हूँ आपकी कीर्ति विमल बनी रहे। इतना सुनने पर भी रामजी से नहीं रहा गया। वे भावावेश में वन विहारिणी जनक-नन्दिनी को पकड़ने दौड़े। मैथिली पूरी शक्ति से दौड़ी जिस से राघवेन्द्र उन्हें स्पर्श न कर सकें। जब दोनों अत्यन्त समीप आ गये, तो सीताजी गंगाजी के एक ऊँचे टीले से बड़े भारी नाले में कूद पड़ीं। उनके शरीर का अन्त हो गया।

सौ करोड़ रामायण हैं, किसी न किसी में यह कथा होगी ही परन्तु काल की इसमें कैसी कारुणिक लीला का वर्णन है, जनक-नंदिनी के चरित्र को कितना उज्वल बताया गया है, एक वह भी समय था कि भगवान् राम एक क्षणको भी सीताजी का वियोग सहन नहीं कर सकते थे, फिर उन्होंने ही स्वयं उन्हें निर्वासित कर दिया और जीवन भर उनसे पृथक् ही रहे। यह कथा बंगला की महिला कवियित्रि चन्द्रावती ने अपनी रामायण में भी लिखी है। जैसे हमारे यहाँ तुलसीकृत रामायण प्रसिद्ध है, वैसे ही बंगला में कृत्तिवासकृत रामायण है। उसमें बड़ी अद्भुत अद्भुत कथायें हैं। पूर्वी बङ्गाल में चन्द्रावती की भी रामायण प्रसिद्ध है। मुझे तो उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ नहीं, किन्तु उसके उद्धरण मैंने पढ़े हैं। उसमें सीताजी की इस कथा को इस प्रकार लिखा है, कैकेयी की एक पुत्री थी जिसका नाम ककुआ था। वह बड़ी ही कुटिलहृदया थी, वह नाना प्रकार के षडयन्त्र रचने में बड़ी

दद्द थी। वह एक दिन जनकनंदिनी के समीप गई और बोली—"भाभी! रावण कैसा था?

जानकीजी ने कहा—"बीबीजी! रावण को तो मैंने भी कभी नहीं देखा, वह जब भी मेरे समीप आता मैं पीठ फेर लेती थी, आँखें मींच लेती थी। हाँ, जब वह मुझे लंका ले गया था, तब मैंने समुद्र के जल में उसकी परछाई अवश्य देखी थी, उसके दश सिर और २० भुजायें मुझे समुद्र में दिखाई दी थीं।"

ककुआ ने कहा—"इस पंखे पर उसका चित्र बनाओ तो सही।"

भोली भाली सीताजी उसकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ गयीं उन्होंने पंखे पर उसका चित्र बनाया। उस ककुआ ने उन्हें इस प्रकार बातों में उरझा लिया कि बातें करते करते उन्हें निद्रा आ गयी। पंखा उनके शरीर से सट गया, वे सो गयीं। ककुआ ने चुपके से श्रीरामचन्द्रजी को बुलाया और सैकड़ों झूठी बातें बनाते हुए कहा—"देखो, भाभी अभी तक रावण को भूली नहीं। उसका चित्र बनाकर उसे छाती से चिपटाकर नित्य सोती हैं।" इस प्रकार श्रीरामजी द्वारा सीता निर्वासित हुईं। बङ्गाल की कवियित्री चन्द्रावती की रामायण की बड़ी प्रशंसा है। सुनते हैं उसकी कविता में करुणा का स्रोत फूट निकला है। उसे अनपढ़ मल्लाह आदि भी गाते हैं और गाते गाते रोते हैं। स्वयं चन्द्रावती का जीवन भी काल की एक क्रूर पहेली है। स्वयं उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटी कि उसका हृदय पक गया, उसमें बड़ा भारी घाव हो गया। उसी घावमें सराबोर होकर जो कविता निकली हो, वह तो सजीव करुणा ही होगी। काल ने उसके जीवन के साथ भी एक क्रूर परिहास किया। उसका जीवन भी सुनने योग्य है।

पूर्व बंगाल में उसका जन्म हुआ। उसके पिता का नाम था वंशीदास। प्रतीत होता है ये कायस्थ रहे होंगे। इनकी पत्नी का बहुत अल्प समय में शरीरान्त हो गया। चन्द्रावती मातृहीना हो गई। पिता की एकमात्र संतति थी। माता के मर जाने के अनन्तर पुत्री पिता के अधिक निकट आई, अत्यंत लाड़ चाव से स्नेह ममता से, पिता अपनी इकलौती सन्तान का लालन पालन करने लगे। वे सम्पन्न थे, जाति कुल में प्रतिष्ठित थे, संभ्रात परिवार के थे। चन्द्रावती अत्यन्त ही लावण्यवती थी, वह जितनी ही सुन्दरी थी उतनी ही सुशीला थी। अत्यन्त संकोची हृदय की। काल क्रम से वह चढ़ती गयी, बढ़ती गयी, शैशव, कौमार, पौंगड़ावस्थाओं को पार करके अब उसने किशोरावस्था में पदार्पण किया। वह वन में फूल लेने जाया करती थी। वहीं पर उसी गाँव का, उसी की जाति का एक किशोर बालक कभी आता उसका नाम था जयचन्द्र चन्द्रावती बड़े स्नेह से माला बनाती और संकोच के साथ जयचन्द्र को दे देती। वह माला लेकर चल जाता दोनों में कुछ स्पष्ट बातें तो न होतीं, किन्तु मूक भाषा में कुछ तो बातें हो ही जातीं।

एक दिन अत्यन्त ही संकोच से उसने चन्द्रावती के हाथों में एक पत्र थमा दिया और वह चला गया। चन्द्रावती ने अनुराग भरित हृदय से, झल झलाये नेत्रों से कंपित करों से पत्र को खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था— मैं धृष्टता कर रहा हूँ, अत्यन्त डर भी रहा हूँ, सोचता था ऐसी बात तुम्हें न लिखूँ किन्तु बिना लिखे मुझ से रहा भी तो नहीं जाता। मेरा हृदय दुविधा की चक्की में पिस रहा है। तुम मुझे नित्य माल्य अर्पण करती हो, इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ, उस माला को मैं नित्य रात्रि भर अपने अश्रुओं से सिंचित करता रहता हूँ, जिससे उसके पुष्प अम्लान

बने रहे। जब से तुम्हारा अनिर्वचनीय आनन अवलोकन किया है, तबसे निद्रा मुझसे असंतुष्ट होकर चली गयी है। भूख भी नहीं लगती। बात तो असंभव है। बौने के चन्द्र को ग्रहण करने के समान है, फिर भी एक कोने में बैठी आशा मुझे बारम्बार अधीर बनाये हुए है। मै जनता हूँ, तुम्हारे पिता धनी हैं, प्रतिष्ठित हैं सम्भ्रान्त हैं, तुम उनकी प्राणों से भी प्यारी पुत्री हो एकमात्र संतान हो। इधर मैं मातृ पितृ हीन हूँ, साधन विहीन हूँ मामा के यहाँ रह कर दिन काटता हूँ, तुम्हें पाना असम्भव है। इतने पर भी मन मानता नहीं। विवश होकर लिख ही दिया। क्या कभी जीवन में मुझे तुम्हारा दासानुदास बनने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है ?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा, एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा बारबार पढ़ा। उसका हृदय भर आया, आखें बहने लगी। किशोरावस्था में एक सुन्दर किशोर युवक जिससे अनुराग करे, कौन ऐसा नारी हृदय होगा; जो उस अनुराग की उपेक्षा कर दे। यह दूसरी बात है कि वह उसे शब्दों में व्यक्त न कर सके। प्रायः कुलवती नारी जाति के लिए उसे शब्दों में व्यक्त करना अत्यन्त कठिन ही है। पुरुष तो कर भी सकता है, किन्तु पुरुषों से चौगुनी अधिक लज्जा रखनेवाली कुलवती नारी उसे कहे भी तो कैसे कहे।

चन्द्रावती जयचन्द्र को चाहती न हो सो बात नहीं, किन्तु वह कह कैसे सकती थी। दूसरे दिन माला के साथ उसने भी जयचन्द्र के हाथों में एक छोटा सा नन्हा सा पत्र थमा दिया। जयचन्द्र को आशा थी, जैसे मैंने उससे प्रार्थना की है, वह भी विस्तार से उसका उत्तर देगी, किन्तु उस पत्र में ऐसा कुछ नहीं था उसमें इतना ही लिखा—"नारी जाति स्वतन्त्र नहीं। मेरे पूज्य पिताजी हैं, वे जो करेंगे वही होगा मैं क्या जानूँ ?"

किसी भाँति वंशीदासजी को यह बात ज्ञात हो गयी कि मेरी पुत्री जयचन्द्र से अनुराग करती है, वे इस सम्बन्ध को हृदय से चाहते तो नहीं थे, किन्तु इकलौती पुत्री का मन भी मारना नहीं चाहते थे। जयचन्द्र के मामा से बात चीत होने पर दोनों के विवाह की बात पक्की हो गयी। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

जब विवाह के कुछ ही दिन रह गये, तो काल ने अपनी एक अत्यन्त ही क्रूर क्रीड़ा दिखायी। जयचन्द्र का प्रेम गंभीर नहीं था, वह छिछला था, वह चन्द्रावती के बाहरी रूप को ही देख सका, उसके अन्तर को स्पर्श न कर सका। वह रूप का ही उपासक था। किसी अत्यंत सुन्दरी यवन कन्या के रूप को देखकर जयचंद्र चन्द्रावती के अनुराग को अपनी याचना-को-भूल गया। उसने उस यवन कन्या के द्वार पर अपनी झोली फैला दी। वहाँ तो निश्चित उत्तर था—यदि तुम अपने धर्म को छोड़कर विधर्मी बन जाओ तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो सकती है, धर्म का मूल्य देकर रूप क्रय किया जाता है। रूपाकर्षण में अन्धे हुए जयचन्द्र ने अपने धर्म का परित्याग कर दिया। उसने उस यवन कन्या से विवाह कर लिया और वह विधर्मी बन गया।

चन्द्रावती की समस्त आशाओं पर तुषाराघात हुआ। उसके सभी स्वर्णिम स्वप्न धूमिल बन गये। वह मर्माहत हो गयी। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया—"बेटी! वह तो पथभ्रष्ट था, मैं किसी अत्यंत कुलीन लड़के के साथ तेरा विवाह कर दूँगा।"

शीलवती कुलवती पुत्री अब पिता से अपने मन की बात कैसे कहती—मन तो एक ही है, जहाँ फँस जाता है वहाँ से कठिनता से निकलता है, नहीं भी निकलता है। उसने सरलता से कहा—"पिताजी! विवाह होना ही चाहिये यह कोई आवश्यक

ही है क्या ? मुझे आप पुत्र ही समझें, मैं आप के चरणों में ही रहकर जीवन को नहीं काट सकती क्या ?

पिता कवि थे, अनुभवी थे, सहृदय थे, पुत्री की मर्मान्तक पीड़ा का उन्होंने अनुभव किया। उन्होंने पुनः पुत्री से विवाह का आग्रह नहीं किया। पुत्री का मन कैसे लगे इसके लिए उन्होंने उसे कविता करने का आदेश उपदेश दिया, जिस पर कविता करना आ गया उसे फिर अन्य मनोरञ्जन की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मन तो सदा कविता लोक में ही विचरण करता रहता है, जिस लोक में इस वीभत्स लोक की भाँति निन्दा नहीं, घृणा नहीं, लांछना नहीं, अपवाद नहीं, असौन्दर्य नहीं। जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरं का ही साम्राज्य है।

पुत्री ने पिता के आदेश का पालन किया। उसने रामायण बनायी और भी बहुत से लोकगीत बनाये। पिता ने फूलेश्वरी नदी के तट पर अपनी ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पुत्री के लिए विश्वेश्वर शिव का एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। तपस्विनी चन्द्रावती दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती। भगवान् की पूजा के लिए फूलवन से पुष्प चुनती, बिल्व पत्र तोड़ती, माला बनाती। घंटों अर्चना करती और बचे हुए समय में कविता करती। उसे काल कठिनता का बोध ही न होता। काल मथर गति से चलता जाता। तभी उसके जीवन में फिर एक बड़े वेग का धक्का लगा। फिर एक बवंडर आया और उसकी चोट को वह फिर सहन न कर सकी। वह काल का कवल बन गयी।

जयचन्द्र जिस रूपज्योति में चकाचौंध बना था वह तो मृग तृष्णा थी। कहाँ यथार्थ और कहाँ परछाई। कहाँ कांच और कहाँ चैतन्य मणि। जयचन्द्र को शान्ति नहीं मिली। उसका मन उसे बारबार धिक्कारता रहता। चन्द्रवती के निश्छल निष्कपट प्रेम

को याद करके वह रोता रहता । अन्त में वह उस लड़की को छोड़कर अपने गाँव में लौट आया । [illegible] जीवन [illegible] प्रतीत होने लगा । ग्लानि लज्जा और संको[illegible] मर्मान्तक पीड़ा होने लगी । सम्पूर्ण साहस बटोर कर उसने वंशीदास जी को एक पत्र लिखा । उसमें उसने एक बार चन्द्रावती के दर्शनों की प्रार्थना की ।"

पिता का हृदय छलनी हो गया था । जिसने मेरी पुत्री का सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर दिया, जिसने मेरे जीवनको निराश दुखी और रिक्त बना दिया, वही दुष्ट फिर मुझे मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने आ गया । मर्माहत पिता ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी उसने उसके पत्र का कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

तब जयचन्द्र ने चन्द्रावती को एक अत्यन्त मार्मिक पत्र लिखा- "देवि ! मैं अधिकारी तो नहीं हूँ तुम्हें मुँह दिखाने का किन्तु मैं इस संसार से सदा के लिए जा रहा हूँ, चाहता हूँ, महाप्रस्थान के पूर्व एक बार तुम्हारे चरण स्पर्श कर सकूँ अपने उष्ण अश्रुओं से तुम्हारे अरुण चरणारविन्दों को धो सकूँ । "हाँ मैं भूल गया, मैं तो म्लेच्छ हूँ, विधर्मी हूँ, तुम्हें स्पर्श करने का मुझे अधिकार ही क्या है, मैं स्पर्श नहीं करूँगा । दूर से एक बार केवल एक ही बार तुम्हरे अन्तिम दर्शन करना चाहता हूँ । यही मेरी अन्तिम लालसा है । क्या मेरी यह लालसा पूरी हो सकेगी ?"

चन्द्रावती ने पत्र पढ़ा रो पड़ी । काल की कैसी विडम्बना है जिसकी मूर्ति हृदय में तो लिखी है, किन्तु उसे आंख उठाकर देख नहीं सकते । शरीर से स्पर्श नहीं कर सकते । उसके लिए स्वेच्छा से सान्त्वना के दो शब्द लिख नहीं सकते । चन्द्रावती ने डरते डरते अपने पूज्य पिताजी से पूछा जिनकी इच्छा के विरुद्ध

वह कुछ भी नहीं कर सकती थी। पिताजी ! जयचन्द्र एक बार मिलना चाहता है।

दुखी पिता ने अपने सम्पूर्ण रोष को छिपाते हुए अपने असह्य क्रोध को पीते हुए कहा—"बेटी! जयचन्द्र विधर्मी है, यवन है, धर्म भ्रष्ट है। उससे हमें क्या काम ?"

पुत्री ने फिर पिता से कुछ भी नहीं कहा। उत्तर भी कैसे दे। वह भगवान् विश्वेश्वर की अर्चना में तल्लीन हो गयी। भीतर से किवाड़ बन्द करके वह दिन भर शिवपूजन और स्तोत्रपाठ में ही लगी रहती।

इधर चन्द्रावती से कुछ भी उत्तर न पाकर जयचन्द्र विक्षिप्त हो गया। उन्मादावस्था में वह मंदिर के समीप आया। दूर खड़े होकर उसने पुकार की—"चन्द्रा ! एक बार दर्शन दो, अंतिम बार मैं तुम्हें देखकर इह लोक की लीला समाप्त करना चाहता हूँ।"

चन्द्रावती तो किवाड़ बंद करके स्तोत्रपाठ और पूजा में तल्लीन थी, उसने जयचन्द्र के शब्द सुने ही नहीं। निराश उन्मादी जयचन्द्र ने पत्थर पर सिर पटका और मन्दिर के द्वार पर लिख दिया-"सदा के लिए विदा होने को एकबार झांकी पाने को आया था, किन्तु पापी की वाणी ने भी साथ नहीं दिया वह भी द्वार तक जाकर लौट आई, तुम्हारे कानों तक वह भी नहीं पहुँची। अच्छा क्षमा ! अंतिम विदा सदा के लिए विदा।"

इतना लिखकर जयचन्द्र ने फूलेश्वरी नदी में कूद कर अपने प्राणों को विसर्जित कर दिया। पूजा से निवृत्त होकर जब चन्द्रावती ने दिवाल पर जयचन्द्र के लिखे ये शब्द पढ़े तब उसे कितनी मर्मान्तिक पीड़ा हुई होगी, इसका अनुमान कौन कर सकता है।

वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। अपने अन्तःकरण के दुख को किस-से कहे। मन की पीड़ा को किसके सम्मुख व्यक्त करे। पिता को तनिक भी पता लगेगा, तो उन्हें कितना क्लेश होगा। अतः उसने उस विप को स्वयं ही पीकर पचा डाला। अब उसे न भूख लगती थी न प्यास। कविता भी लिखती तो मानों करुणा को उगल रही हो। थोड़े ही दिनों में पूजा करते करते उसने इस पांचभौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

ऐसी थी वह कवियित्री चन्द्रावती जिसके साथ काल ने क्रूर-तम क्रीड़ा की और जो अपनी करुणामयी कविताओं से अजर अमर हो गयी।

काल की दृष्टि में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई अच्छा है न बुरा, उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। छोटे बच्चे को सोने का चाँदी का, मिट्टी का, पत्थर का, कागज का या किसी अन्य वस्तु का बना खिलौना दे दो, उसके लिये सभी समान हैं। कुछ देर उस से खेलेगा, फिर फेंक देगा, नष्ट कर देगा फोड़ देगा। उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं।

पहिले हम समझा करते थे। दुःख तो हम निर्धनों के ही भाग्य में है, ये धनी लोग तो बड़े सुखी रहते होंगे। सदा माल उड़ाते होंगे।" तब हम समझते थे धन मे ही सुख है। किन्तु जब धनी लोगों के संसर्ग मे आये, बड़े लोगों से परिचय हुआ तब पता चला हम छोटे लोगों का दुःख भी छोटा ही है, जो जितना ही बड़ा होगा उसका दुख भी उतना ही बड़ा होगा। बड़े आदमी हम से सहस्रों लाखों गुने दुःखी हैं। काल की चपेट से कोई भी नहीं बच सकते। काल की दृष्टि मे सभी समान हैं। शतरञ्ज की

गोटें चाहें वे हाथी हों, घोड़े हों, ऊँट हों, सभी काठ के ही बने हैं सभी एक समान हैं।

आज से ७-८ वर्ष पूर्व ही राजाओं के कैसे ठाठ थे, कैसा उन का वैभव था, कैसे राजकुमार थे। किसी को राजा से भेंट हो जाय, तो मानों भगवान् से भेंट हो गयी। राजा चाहे सुरापी हो मांसाहारी हो, व्यभिचारी हो, बड़े-बड़े संत महात्मा उनके दर्शनों को जाते थे। राजा में आठों लोकपालोंका अंश माना जाता था। गीता का "नराणां च नराधिपम्" यह श्लोक पढ़कर उसे भगवान् की विभूति माना जाता था।"राजा" शब्द में ही कितना गौरव था। तीर्थों में जहाँ कोई छोटा मोटा भी राजा पहुँच जाता था, तो हल्ला मच जाता था, लोग राजा के दर्शनों को दौड़े आते थे। काल के प्रभाव से एक यह भी दिन आया कि एक ही दिन में वे ईश्वर से साधारण लोग बन गये। साधारण लोगों की भाँति नौकरी करने लगे। लाखों मनुष्य जिनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते थे, अब वे साधारण लोगों की घुड़कियाँ सहते हैं उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।जो राजमहिषी, राजकुमारियाँ असूर्यपश्या कही जाती थीं। स्वेच्छा से सूर्यनारायण भी जिन्हें नहीं देख सकते थे, वे ही रानी राजकुमारी आज साधारण स्त्रियों की भाँति सिर खोले, खुले बाजारों में घूमती दिखायी देती हैं। यह सब काल की ही तो महिमा है। काल कभी दरिद्री को सिंहासनारूढ़ करता है तो कभी सिंहसनारूढ़ को पकड़ कर नीचे गिरा देता है। काल स्थिर बैठता नहीं वह चक्र की भाँति निन्तर घूमता रहता है, नीचे का ऊपर और ऊपर का नीचे यही क्रम उसका सतत अबाधितरूप से चलता ही रहता है। जिस प्रकार राजागण एक ही दिन में अपदस्त हो गये। कभी ऐसा भी समय आवेगा, कि जनता पुनः राजाओं की माँग करेगी। ये लोग पुनः अपने

गये हुए राज्यों को प्राप्त कर लेंगे। किसी की आँखों में जाला पड़ गया हो, तो चिकित्सक या तो अंजन लगाकर उस जाले को गला देता है, या शल्य चिकित्सा करके जाले को काटकर निकाल देता है। यह नहीं करता कि जिस आँख में जाला पड़ गया है, उस आँख को ही फोड़ दे। इधर काल के प्रभाव से राजाओं में भूमि-पतियों में बड़े दोष आ गये थे। वे अत्यन्त मदान्ध बन गये थे, अधिकांश व्यभिचारी तथा दुर्व्यसनी बन गये थे। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। दुर्निवार भगवान् काल को वे भूल ही गये थे। विषयों की दिन दूनी रात्रि चौगुनी लालसा से उन्हें आगे का कुछ ध्यान ही नहीं रहा था। महाराज मुचुकुन्द ने काल रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की स्तुति करते क्या ही सुन्दर बात कही थी। उन्होंने कहा—"प्रभो! हम राजा गण सदा इसी चिन्ता में रहते थे, कि हमे इतना धन मिल जाय, उसका राज्य प्राप्त हो जाय, उससे बढ़कर हम भोग-भोग सकें। उससे बढ़िया ठाठ बाट बना सकें, इन्हीं विचारों में हम लोग उन्मत्त हो गये थे। विषय जितने ही मिलते जाते थे, उनकी लालसा भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती थी। हमने आपके काल रूप को विस्मृत ही कर दिया था। जैसे क्षुधा के कारण जीभ लपलपाता सर्प असावधान चूहे को दबोच देता है, उसी प्रकार सदा सावधान रहने वाले काल स्वरूप आप प्रमत्त हुए जीवों को सहसा आकर पकड़ लेते हैं। यह हमारी ही दशा नहीं जीव मात्र की ऐसी दशा है। ॐ

ॐ प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥
(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ५० श्लो०)

जब इन राजाओं ने अति कर डाली तो काल भगवान् ने इन मदान्धों की आँखों में दरिद्रता रूपी अंजन डाल दिया जिससे इनका रोग दूर हो जाय। प्राणी जब तक स्वयं दरिद्र के दुःख का अनुभव नहीं करता, तब तक उसकी आँखें नहीं खुलतीं। "असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्रं परमाञ्जनम्" इसलिये काल भगवान् ने इन्हें ऊपर लाकर नीचे पटक दिया। सिंहासनों से नीचे गिरा दिया। इनके मदको चूर करने के लिये इनके अधिकार छीन लिये। किन्तु यह स्थिति भी बहुत दिन नहीं रहने की। क्योंकि काल भगवान् चुपचाप बैठने वाले नहीं हैं, वे ऊपर की वस्तु को नीचे और नीचे की वस्तु को ऊपर करते ही रहते है। राजाओं में अवगुण ही अवगुण नहीं थे कुछ गुण भी थे। एक ही स्थान पर इतने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कहाँ होता था? कला, कौशल, संगीत, साहित्य धर्म, मर्यादा, शिष्टाचार, संरक्षण क्या नाममात्र के समाजवाद में संभव है? सौन्दर्य, कुलीनता, परम्परागत संस्कृति की मर्यादा को ये ही स्थिर रखते थे। इन जड़ विधि की बेड़ी में जकड़े हुए क्षुद्राशय क्षुद्रहृदय, अकुलीन' परम्परा से वंचित, चुने हुए शासकों से यह संभव नहीं। जनता अविलम्ब इनसे ऊब जायेगी। फिर वंश परम्परागत राजाओं में गुण ही गुण दिखायी देने लग जायँगे। लोग राजा बनाने को व्यग्र बन जायँगे। साम्यवाद की शुष्क चर्की में पिसते पिसते पग पग पर सहकारी सरकारी बंधनोंसे मुक्त होने के लिये सब लोग राजा चाहेंगे। वे क्या चाहेंगे काल ही उनके मुख से कहलावेगा। फिर राज्यों की स्थापना होगी, फिर सिंहासन लगेंगे, फिर छत्र मुकुट का बोल बाला होगा। यही उन लीलाधारी काल भगवान की लीला है, यही उन कौतुकी का कौतुक है। जब ऐसा काल होने को होता है

तब वैसे ही वानिक बन जाते हैं। जहाँ ग्रीष्मकाल जाने को होता है, लोग वर्षा के लिये अधीर हो जाते हैं, सदा आकाश की ही ओर ताकने लगते हैं। वर्षाकाल आ जाता है। वर्षा से ऊबे कि शनैः शनैः शरदी आती है। यह काल परिवर्तन इस ढँग से होता है, कि हमें प्रतीत ही नहीं होता कब बदल गया। बदलता तो नित्य ही है। लड़की बढ़ती तो प्रतिक्षण है। हम उसे गोदी में खिलते हुए अनुभव नहीं करते। एक दिन देखते हैं उसका बाल काल तो चला गया, युवावस्था ने उसपर अधिकार जमालिया, तब पिता को उसके विवाह की चिन्ता होती है। इस प्रकार काल शनैः शनैः गुपचुप प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है, हमें पता तब चलता है जब उस परिवर्तन का स्थूल रूप हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

सबसे बड़ी साधना यही है कि प्रत्येक वस्तु में काल की क्रीड़ा देखी जाय। हमने एक बीज मिट्टी में बो दिया। समय पर उसे पानी से सींच दिया। कुछ दिन पश्चात् हम एक दिन सोकर उठकर सहसा प्रातः देखते हैं, उसमें छोटा अंकुर उत्पन्न हो गया। वह सहसा नहीं हुआ। काल भगवान् उसे भीतर ही भीतर पकाते रहे। जब उसका स्थूल रूप हमारी चर्म चक्षुओंको दिखायी दिया तब परिणाम का पता चला। फिर शनैः शनैः वह अंकुर बढ़ते बढ़ते बड़ा भारी विशाल वृक्ष बन गया। यही काल का काम है। इसी काल को सर्वान्तर्यामी ईश्वर मानो। इस काल को जिसने भगवान् समझ कर नमस्कार कर लिया; वही सुख दुःख, पाप, पुण्य, हर्ष, विषाद आदि द्वन्द्वों से छूट कर निर्मुक्त बनजाता है। जो काल के इस रूप को बिना जाने ही मर जाते हैं, वे पुनः पुनः चौरासी के चक्कर में आते जाते रहते हैं। जीवन मरण के प्रवाह में पड़कर मरते और जन्म लेते रहते हैं जो काल

का यथार्थ स्वरूप जान जाते हैं वे न कभी मरते हैं न जन्म लेते हैं, भुक्तिभाक् बन जाते हैं, कालातीत हो जाते हैं। इसलिये प्रवाह रूपसे बहने वाले इस काल को ही भगवान् मानकर समस्त भगवत् स्तुतियों में काल को बारम्बार नमस्कार की गयी है, काल की महान् महिमा गायी गयी है। यह जो भी कुछ अच्छा बुरा,खोटा,खरा, सदाचार, व्यभिचार हो रहा है, सब काल के ही प्रभाव से हो रहा है, इसमें दोष किसी का नहीं। काल की महिमा है सबका काल बँधा है, उससे न कोई राई भर घट सकता है न तिल भर बढ़ सकता है। काल ही जंगलों को नगर बनवा देता है, काल ही बड़े को छोटा और छोटे को बना देता है। इसलिय राजर्षि भर्तृहरि ने काल को बली मानकर उसकी भगवत् रूप में वन्दना की है।

एक बार भर्तृहरि कहीं से निकलकर जा रहे थे वहाँ उन्होंने खंडहर पड़े देखे, उन्हें देख कर वे खड़े हो गये और अत्यन्त ही अधीरता के साथ अपने एक साथी से दीर्घनिःश्वास लेते हुए कहने लगे—

भाई! तुम इन खंडहरों को देख रहे हो न?

उसने कहा—"हाँ, देख तो रहा हूँ, इसमें क्या बात है टूटी फूटी ईटें पड़ी हैं, ऊँची नीची भूमि है।"

भार्तृहरि ने कहा—"सो तो है ही ,किन्तु इन खंडहरों में एक महान् इतिहास छिपा है, ये सब ईटें अतीत की स्मृतियाँ दिला रही हैं. हृदय में मीठी मीठी हूक पैदा कर रही हैं।"

साथी ने कहा—"कुछ कहो भी तो।

भार्तृहरिजी ने कहा—'क्या कहें, कुछ कहने की बात हो तो कही भी जाय क्या से क्या हो गया। पहिले यहाँ एक बड़ी भारी नगरी थी। ऐसी सुन्दर ऐसी सजी बजी कि इसकी समता की

खोजने पर भी कम नगरियाँ मिलेंगी। नगरी ही नहीं थी, यह एक राजा की राजधानी थी। राजा भी ऐसे वैसे साधारण राजा नहीं थे। वे सबसे महान् माने जाते थे। सर्वत्र उनके धवल यश का विस्तार था। सर्वत्र उनके दान की ख्याति थी। उनके एक से एक बढ़कर कुलीन, विद्वान, नीतिज्ञ, देशकालज्ञ संधि विग्रह में दक्ष सैकड़ों मंत्री थे। उनकी अद्वितीय राजपरिषद थी। जो संगीत की ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होती रहती। स्वर्ग की अप्सराओं के समान वारवनितायें जहाँ नित्य नये नये नृत्य दिखातीं, बन्दी विरुदावली गाते, नट नर्तक अपनी अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। पंडित गण शास्त्र चर्चा करते। जहाँ कितने निर्धन नित्य धनी बनाये जाते। उस राजा की एक से एक सुन्दरी अप्सराओं को भी लज्जित करने वाली सहस्रों रानियाँ थीं। जिनके हास, विलास, रूप, यौवन, सौन्दर्य, सौभाग्य को देखकर सुरललनायें भी ईर्ष्या करतीं। कितने सुन्दर सुन्दर उस राजा क सैकड़ों राजकुमार थे, जब वे वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर सुन्दर सुडौल पुष्ट घोड़ों पर चढ़कर निकलते तो पृथ्वी डगमग करने लगती। उस राजा की राजकुमारियाँ कितनी सुन्दरी थीं, जब वे अपने अन्तःपुर के बगीचों में टहलतीं तो ऐसा लगता था मानो सैकड़ों पूर्णचन्द्र अपनी शीतलमन्द किरणों से आराम को अवलोकित कर रहे हों। उस राजा का अतुल वैभव था, सुरपति को भी लज्जित करने वाला उसका वैभव था, किन्तु आज देख रहा हूँ न यहाँ वह नगरी है, न वे फल फूलों से लदे बाग बगीचे और वृक्ष ही हैं। न वे राज महल हैं, न राजसभा, राजा, रानी, मन्त्री, सचिव, सेवक, नट नर्तकी, सूत, मागध, वन्दी तथा सेवक, सेनापति और प्रजा जन न जाने सबके सब कहाँ चले गये। ये सब काल कवलित

हो गये। काल भगवान् के गाल में समा गये। कहने मात्र को रह गये। जिन काल भगवान् की कृपा से ये सबके सब विलीन हो गये, उन काल देव को वारम्बार नमस्कार है, प्रणाम है वन्दना है।"

मुझे बहुत से बन्धु लिखते हैं, पूछते हैं-प्रति मास "भागवती कथा" निकालना चाहते थे। अब तो वर्षों दर्शन नहीं होते निकालने में देरी क्यों करते हो? क्या उत्तर दूँ, यही कहता हूँ सब काल के अधीन है काल पाकर अवश्य निकल जायँगी। जो काल ऊजड़ को नगर बना देते हैं नगरों को ऊजाड़ देते हैं उन काल भगवान् को बारम्बार नमस्कार है। राजर्षि भर्तृहरि के शब्दों में—

भ्रातः कष्टमहो महान स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्र बिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्र निवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः;
सर्वयस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

छप्पय

हाय! बन्धु अति कष्ट रही इत नगरी भारी।
रह्यो महा नृप तासु नारि सुमुखी सुकुमारी॥
सुन्दर सुघर सुशील राजसुत अति बलवन्ता।
सेवक सचिव समूह समर प्रिय सब सामन्ता॥
बन्दी बहु बिरुदावली, गावत रह्यो न नाम है।
निगले जिनि सब काल तिनि, बारम्बार प्रणाम है॥

संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)
मार्गशीर्ष शु० ११ सं० २०२२

प्रभुदत्त

प्रार्थना

(१)

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत—
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥*

छप्पय

करुनासागर श्याम दयानिधि दीनदयाला।
करौ कृपाकी कोर कुटिल पै कृष्णकृपाला ॥
डूबि रहे भव माहिँ पुण्य पथ दीखत नाहीं।
मग सूधौ है कौन श्यामघन सूझत नाहीं ॥
लाओ पथ पै पकरि कर, करो दया दाता दयित।
नन्दनँदन भव पन्थ में, भटकैं हम इत उत भ्रमत ॥

प्रभो ! दयालो हे गीता ज्ञान के दाता ! दीनों पर दया करो। प्रभो ! तुम जो कोटि जन्मों तक तप, यज्ञ, स्वाध्याय दान, धर्मादि पुण्य कर्म करता है, उसे तुम्हारी भक्ति प्राप्त होती है। निरन्तर शुभ कर्मों के करने से जिनके हृदय के कल्मष कट गये हैं, उन परम पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा आपकी कृपा की उपलब्धि होती

---

* शास्त्र एक ही है वह है देवकीनन्दन का गाया हुआ गीता। देवता एक ही हैं, वे हैं श्रीदेवकीनन्दन। मन्त्र एक ही है, वह है देवकी-नन्दन का नाम। कर्म एक ही है, वह है देवकीनन्दन देव की सेवा।

हैं। जिनका अन्तःकरण पावन बन गया है, जिनका मन निर्म
हो गया है, उन भाग्यशाली भक्तों को आपकी भव भवभंजि
भक्ति की प्राप्ति होती है। हमारे हृदय में उन सत् कर्मों का लेः
तक नहीं। कहाँ पावनता को भी पावन करने वाले महान् से भ
महान् आप और पाप पंक में निमग्न नीचों से भी नीच कह
पामर पुरुष हम। किसी भी भाँति आपकी छाया तक पहुँचने वं
भी हम अधिकारी नहीं। आप भक्त भयहारी हैं, प्रपन्न पारिजा
हैं, शरणागत वत्सल हैं। प्रपत्ति प्रिय हैं, हम कैसे आपके परम
पावन पादारविन्दों तक पहुँच सकते हैं ?

सुना है आप अपने द्वेषोभक्तों पर भी करुणा की वृष्टि करत
हैं। जो असुर आपको द्वेष भाव से भी भजते हैं, उनके भी आप
समस्त अपराधों को क्षमा करके, उन्हें अपना निज धाम प्रदा
करते हैं। यदि ऐसा न होता तो रावण कुम्भकरण, हिरण्यकशिपु
हिरण्याक्षादि राक्षसों के अपराधों की कोई गणना ही नहीं।
इन लोगों ने न जाने कितने ब्राह्मणों का वध किया, कितने वेदज्ञ
विप्रों को उदरस्थ कर गये। कितनी कुलकामिनियों का सतीत्व
नष्ट किया। कितने घट सुरा के गट्ट गट्ट पान कर गये, किन्तु
हरि हाथों से मारे जाने के कारण इनके सभी अपराध क्षम्य
समझे गये। आप अपने द्वेषी भक्तों पर—जो वैर भाव से
आपका चिन्तन करते हैं—उन्हें भी अपना लेते हैं।

किन्तु प्रभो! हम वैसा वैर भी तो नहीं कर सकते। इतना
तीव्र द्वेष करने की भी तो हममें शक्ति नहीं है। इतना बल
पौरुष भी तो नहीं दिखा सकते। अर्जुन तो शक्तिशाली थे, जब
किरात का छद्म वेष बनाकर आप उनके सम्मुख प्रकट हुए तो
उन्होंने भारी बाण वर्षा करके, घूँसा लात मार मार कर ही आप
को सन्तुष्ट कर लिया। हे शिव स्वरूप! इसके लिये भी तो
महान् शक्ति अदम्य उत्साह, निर्भयता तथा निर्भीकता चाहिये,

उसका हममें शतांश, सहस्रांश कोट्यंश भी नहीं। फिर हमारी क्या गति होगी ? नन्दनन्दन !

आपको लोग भक्तवत्सल कहते हैं, भक्तों के समस्त अपराधों को आप उसी भाँति चाट जाते हैं जिस प्रकार गौ अपने सद्याजात वत्स के सम्पूर्ण मल को जिह्वा से चाट चाटकर उसे सर्वथा स्वच्छ और निर्मल बना देती है। किन्तु अशरण शरण ! हमारे हृदय में तो भक्ति भाव का लेश नहीं। विषवत् विषयों का वृहद् भंडारा हृदय में भरा है अतः आपकी भक्तवत्सलता भी हमारे किस काम आ सकेगी ?

सुना है प्रभो ! आप का एक नाम प्रपन्न पारिजात भी है। जो आपके प्रपन्न हो जाते हैं। उनकी आप इहलौकिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओं को पूर्ण कर देते हैं कल्पवृक्ष की भाँति उनको किसी की कामना को आप शेष नहीं रहने देते। सो प्रभो ! हम प्रपन्न होना जानते ही नहीं। प्रपन्न कैसे हुआ जाता है, किस प्रपन्न को आप अपनाते हैं किसके ऊपर आप अमृतत्व की वृष्टि करते हैं इससे हम अपरिचित हैं।

सुना है आप शरणागत वत्सल है। जो शरण में आ जाता है उसे आप अपना लेते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे जाने पर तो वह समस्त कामनाओं को पूर्ण कर ही देता है, किन्तु जो इसके समीप जा ही नहीं पाता, जो उसकी शीतल छाया की सन्निधि प्राप्त करने में समर्थ ही नहीं। उसका क्या होगा ? हम ऐसे ही असमर्थ हैं हे अच्युत !

इन सब नामों से साधन सम्बन्धी कामों से हमें कोई अपने उद्धार की आशा नहीं। आशा की एक ही कोर दिखाई देती है कि आपका एक नाम 'पतितपावन' भी है। यद्यपि हमें अपने पतितपने का भी भान नहीं होता, भान न भी हो, पक्षी को मैं नभ में उड़ रहा हूँ, इसका भान न भी हो, किन्तु वह उड़ेगा

तो नभ में ही। हमें चाहें अपने को श्रेष्ठ ही समझते, किन्तु सच्चि-नन्द घन, सर्वसुखों के आलय आनन्द के निलय आप अमृत स्वरूप स्वामी को भूलकर विषयों के दास बने हुए हैं। संसारी भोगों के गर्त में कीड़ों की भाँति पड़े कुलबुला रहे हैं और फिर अपने को सुखी समझ रहे हैं। उन विषयोंमेंही आनन्द की,सुखकी परमशांति की खोज कर रहे हैं। फिर हम से अधिक पतित कौन होगा? हे स्वामिन्! हमारी प्रपन्नता की ओर, भक्ति की ओर, शरणागति की ओर न देखिये। हम पतितों का आप करुणा करके उद्धार करें। हम तुम्हारे कमल मुख निसृत गीता ज्ञान को हृदय में धारण कर सकें। हे देवकीनन्दन! आपके गाये गीतों का हार बना सकें, अपने कंठ का आभरण बना सकें, उन गीतों को कंठस्थ कर सकें।

हे श्यामसुन्दर! अपने हृदयरूपी रिक्त मानसमंदिरमें तुम्हारी मुनि मनहारिणी, त्रैलोक्यपावनी, ब्रजवधुओं के हृदय कमल को सरसावनी मन मोहिनी मूर्ति को स्थापित कर सके। देव रूप से उसकी मानसिक पूजा अर्चा कर सके।

वाणी से आपके "श्रीकृष्ण गोविन्द, हरे, मुरारे, हे नाथ, नारायण, वासुदेव" आदि सुमधुर नामों का उच्चारण कर सकें। त्रैलोक्य पावन आपके नामोंका प्रेमपूर्वक गायन कर सकें। एक मात्र आपके नामों का गायन ही हमारे जीवन का आधार हो वही हमारा व्यापार हो, वही हमारा सर्वस्व हो और क्या बतावें भक्त भय भंजन! एक ही अभिलाषा और है कि हम जो भी कुछ कार्य करें वे सब आपके ही निमित्त हों। हमारे समस्त कर्म, हमारी समस्त चेष्टायें आपकी सेवा के ही रूप में हों। हे गीता गायक! हे देवाधिदेव! हे जगन्मंगल नामों के नामी! हे सदा सर्वदा सेवनीय स्वामिन्! हमारी प्रार्थना आपकी पावन परिषद् में स्वीकार होगी क्या?

छप्पय

एक शास्त्र ही, सार कृष्ण मुख निसृत गीता।
एक देवकी तनय देव ही साँचे मीता॥
एक मन्त्र ही सार नाम प्रभु को अति पावन।
एक नाम कहि कटे अजामिल के जगबन्धन॥
एक करम करतव्य है, नसैं पाप प्रभु शरनतैं।
करैं (कृष्ण सेवा) सतत, तनतैं मनतैं बचनतैं॥

गीता-वार्ता

(*श्रीमद्भागवत और गीताज्ञान*)

[२]

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततोनिवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥
स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।*

(श्री भा० ११ स्क० १६ अ० ६,७,८ श्लो०)

छप्पय

बन्दौं प्रभुपद पदुम परम पावन पल्लवनव।
तीर्थनिकूँ जो करें तीर्थ तारक अति अभिनव॥
सिर चरननि धरि धूरि कहें उद्धव-हे स्वामिन्।
तव अचिन्त्य ऐश्वर्य आपु हैं अगजग पावन॥
भूमि, स्वरग, पाताल अरु, तुमहिं दिशा विदिशा भरो।
जो विभूति तुम्हरी प्रभो! तिनि सबको बरनन करो॥

---

*श्रीउद्धवजी के विभूतियों के पूछने पर भगवान् कहने लगे—उद्धव! तुम प्रश्नकर्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हो। जो प्रश्न तुमने मुझसे किया है वही प्रश्न कुरुक्षेत्र के रणांगण में युद्ध के समय शत्रुओं से लड़ने को तत्पर अर्जुन ने मुझसे किया था। उसके मन में यह बात बैठ गयी थी, कि राज्य के लिये स्वजन कुटुम्बियों को मारना गर्ह्य है अधर्म है। वह साधारण पुरुषों की भाँति सोच रहा था कि मैं मारने वाला हूँ, ये सब

तब बोले भगवान् 'सुनो उद्धव अतिज्ञानी।
अरजुन हू यह प्रश्न करयो निजकर्ता मानी॥
जानि स्वजन बध निन्द्य राजहित अधरम भारी।
उपरत रनतैं भयो बुद्धि विपरीत बिचारी॥
तब मैंने रन भूमि में, भक्तिज्ञान शिक्षादई।
बहुविधितैं समुझाइके, श्री भगवत् गीता कही॥

आज चिरकाल के अनंतर सूतजी को अपने सत्र में देखकर शौनकादि सभी ऋषि मुनि परम प्रमुदित हुए। उनका हृदय हर्ष से यह सोचकर भर गया, कि अब अच्छी अच्छी उत्तम २ भगवत् कथायें सुनने को मिलेंगी। ऋषियों द्वारा सत्कृत होकर, पैर धोकर जलपान करके तनिक विश्राम के अनंतर जब वे स्वस्थ होकर सुख पूर्वक सत्र में बैठे, तब सब ऋषि मुनिओं से घिरे हुए शौनकजी ने उनसे पूछा—सूतजी! इतने दिनों तक कहाँ कहाँ रहे? आपने तो अत्यधिक समय लगा दिया। आपके बिना सत्र सूना सूना-सा प्रतीत होता था। ऐसी सुन्दर काथायें सुनने को नहीं मिलती थीं, कहाँ रम गये? किन-किन देशों को आपने हरिकथा सुनाकर परम पावन बनाया?

सूतजी ने कहा—मुनियों! यह जीवन जाने कबसे कर्म बन्धनों में जकड़ा हुआ इधर उधर भटकता फिर रहा है, इसे कहीं शान्ति मिलती नहीं। जहाँ कुछ हृदय के अनुकूल दृष्टि गोचर होता है, जहाँ कहीं आकर्षण प्रतीत होता है, वहीं उलझ जाता है। इस सम्बन्ध की एक कथा सुनिये।

एक ब्रजवासिनी महिला अपने पीहर जा रही थी, उसका

सगे सम्बन्धी मरने वाले हैं।' यह सोचकर उसने युद्ध करने का विचार छोड़ दिया, तब मैंने उस पुरुषसिंह को बहुत सी युक्तियाँ देकर बोध कराया था (उस बोध का नाम ही भगवत्गीता है)

गाँव, गिरि गोवर्धन की तलहटी में था। गिरिराज की जो सात कोश की परिक्रमा का मार्ग है, उसी से जा रही थी, मार्ग में उसे लघुशंका लगी। एक शमीवृक्ष के नीचे वह लघुशंका को बैठ गयी। उस वृक्ष पर एक भूत रहता था।

चौंककर शौनकजी ने पूछा—भूत! सूतजी यह क्या कह रहे हो? ब्रजमंडल में भी भूत और वह भी साक्षात् भगवत् स्वरूप गिरिराज गोवर्धन की तलहटी में? महानुभाव! भूतों का वास तो अपावन स्थान में होता है? जिस ब्रजरज के लिये ब्रह्मादि देव तरसते हैं उसमें भूत का वास कैसे हो सकता है। भूत तो बहुत अधम योनि है?

सूतजी ने कहा—महाराज! अपावन ही तो पावन बनने के लिये परमपावन के समीप जाता है। महाराज! दीन न हों तो, भगवान् का नाम दीनदयाल, दीनानाथ कैसे पड़े? पतित ही न होंगे, तो पतितपावन बैठे बैठे, मूंगफली छील छीलकर भले ही चबाते रहें, उनकी पतित पावनता सार्थक न होगी। अधम ही न होंगे तो अधम उधारन, उद्धार किसका करेंगे। बड़ों की छत्र छाया में ही तो सभी रहते हैं।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। भगवान् तो पतितपावन है ही। वे ही प्राणी मात्र के उद्धारक हैं। सबके शरण्य वे ही है। अपने उद्धार के निमित्त सभी उन ही की शरण में जाते हैं। जाना ही चाहिये। मेरे पूछने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्रजभूमि तो परम पावन भूमि है, वहाँ मरने वाले की तो सद्गति ही होनी चाहिये। ब्रज में मरने वाले को अधम भूत योनि कैसे प्राप्त हुई?

सूतजी ने कहा—भगवन्! मैं बार बार बता चुका हूँ कि शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, फिर चाहे

कहीं भी मरो। कर्मों की गति बड़ी गहन है। प्रभो! बिना कर्म फल भोगे गति नहीं, उद्धार नहीं, कोई अन्य उपाय नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—तो सूतजी! शास्त्रों का जो यह वचन है। कि "काशीमरणान्मुक्ति" काशी में मरनेमात्र से ही मुक्ति हो जाती है, तब तो यह वचन विपरीत पड़ जायगा। जब कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तो मुक्ति कैसे होगी?"

सूतजी बोले—महाराज! वेदवाक्य कभी विपरीत नहीं होते। यह वचन भी सत्य है, इसमें काशी के मरण की महिमा है।

शौनकजी ने पूछा—तो क्या महिमा, अत्युक्ति मात्र ही है?"

सूतजी बोले—"महाराज! अत्युक्ति कौन बताता है। देश जनित, काल जनित और पात्र जनित तीनों की महिमा गायी है। जैसे सप्तपुरियों में मृत्यु होने से दुर्गति नहीं होती। मगहर-कीकटादि देशों में मरना अशुभ है। यह देशमहिमा है। उत्तरायण में शुक्लपक्ष में, पूर्णिमा, संक्रान्ति आदि पर्वो में मरे तो शुभ है अमुक दिन मरे तो अशुभ यह काल जनित महिमा है। ऐसा कर्म करने वाले की ऐसी गति होती है, अमुक कर्म करने वाला स्वर्ग जाता है, अमुक अमुक निषिद्ध कर्म करने वाला नरक जाता है यह पात्र महिमा है। सभी का अपना अपना स्थान है सभी सत्य हैं। यह सत्य है, कि काशी, व्रज आदि में मरने वालों का पुनर्जन्म अन्य स्थानों में नहीं होता, फिर भी भगवन्! बिना ज्ञान के काशी में भी मरने से चाहे नरक न जाना पड़े, किन्तु भैरवी यातनायें तो भोगनी ही पड़ती हैं। इसी प्रकार किसी जन्म के पुण्यादि से व्रज आदि पवित्र क्षेत्रों में मृत्यु हो, तो इतना ही है, कि वहाँ की पावन रज को त्यागकर अन्यत्र जन्म न लेना पड़ेगा। कर्मों का भोग तो भोगना ही पड़ेगा। स्थान के प्रभाव से उसकी अधोगति न होगी, वह ऊँचा ही उठता जायगा। इसलिये व्रज में भी भूत योनि हो

सकती है, होती है। बहुत से भक्तों को ब्रज में भूत मिले हैं, उनका उद्धार किया है, ऐसे अनेकों उदाहरण हैं।

शौनकजी ने पूछा—अच्छा तो उस ब्रजवासिनी को भूत ने पकड़ लिया, फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—हाँ तो महाराज! वह आत्म विस्मृत बन गयी। उसके सम्बन्धी उसे उठाकर मथुरा ले गये, वहाँ कोई भूत विद्या-निपुण ओझा था। उसने मंत्र पढ़ कर उस भूत का आह्वान किया। उस स्त्री पर वह भूत आगया और भूतावेश में वह स्त्री बकारने लगी-अपना वृत्त भूत बताने लगा-उसने कहा-मैं अमुक स्थान का था। अमुक कारण से भूत होकर इस शमी-छोंकरा के वृक्ष पर रहता हूँ, इसने मेरे नीचे लघुशंका करदी मैं इसके ऊपर आ गया।"

भूत विद्या विशारद ने कहा—भाई, तुम जो कहोगे वह करेंगे, इसे छोड़ दो और यह बता दो तुम उस पेड़ पर रहते क्यों हो ?"

भूत ने कहा—अमुक अमुक काम करा दो, मैं इसे छोड़ दूँगा। परन्तु मुझसे यह मत पूछो, कि तुम उस पेड़ पर क्यों रहते हो ?"

भूत विद्या विशारद ने पूछा—भैया, कोई हानि न हो, तो इस बात को बता ही दो तुम उसी पेड़ पर क्यों रहते हो ?"

भूत ने गद्गद कंठ से कहा—भैया ! तुम पूछते ही हो तो बताता हूँ, कभी कभी मुझे यहाँ दिव्य वंशी की सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ती है,वह इतनी अद्भुत आकर्षक ध्वनि है,कि उसी के लालच में यहाँ पर मैं रह रहा हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियों ! ये जीव संसार में इधर से उधर कर्म वश भटक रहे हैं, संसार की दिव्य, अदिव्य सभी वस्तुएँ हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं, जहाँ जिसका प्रारब्धवश अधिक आकर्षण होता है, वहीं जीव अटक जाता है।

कोई रूप के आकर्षण में, कोई रस के आकर्षण में कोई स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, कला, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षादि विविध आकर्षणों से आकर्षित होकर कुछ काल तक—जैसे प्याऊ पर पानी पीने और विश्राम के लोभ से यात्री रुक जाते हैं और स्वस्थ होने पर फिर चल पड़ते हैं, इसी प्रकार यह संसार मार्ग का यात्री कहीं आकर्षित होकर रुक जाता है, आकर्षण कम हो जाने पर या बढ़ जाने पर आगे को चल देता है। कोई आगे बढ़ता है, कोई पीछे लौटता है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! आप इतने दिन कहाँ अटके रहे? आपको भी कहीं दिव्य मुरली की सुमधुर ध्वनि सुनायी दी क्या?

सूतजी बोले—मुनियों! मेरा ऐसा भाग्य कहाँ जो उन श्यामसुन्दर की दिव्य तानयुक्त सुमधुर मुरली ध्वनि को सुन सकूँ? किन्तु हाँ अनेक तीर्थों में परिभ्रमण करते करते मैं समस्त तीर्थों की सार परमरसमयी व्रजभूमि में चला गया था। वहाँ की रज में मेरा इतना आकर्षण हुआ कि मैं कुछ काल वहाँ रह गया। फिर कथा के लालच से आप लोगों के समीप चला आया। अब बताइये मैं आपको क्या सुनाऊँ? अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाऊँ या और कुछ सुनाऊँ?

शौनकजी ने कहा—सूतजी! यात्रा वृत्तान्त तो आप बीच-बीच में अपने स्वभावानुसार सुनाते ही जायँगे। और कोई दिव्य कथा सुनाइये।

सूतजी ने पूछा—क्या सुनाऊँ महाराज! आप जो आज्ञा करें वही सुनाऊँ।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! पहिले आपने ६० भागों में हमें बड़ी दिव्य दिव्य भागवती कथा सुनायी। फिर २ भागों में माहात्म्य सुनाया। कथा से जो शेष भागवती स्तुतियाँ रह गयीं

थी ६ भागों में हमें वे भी आपने सुना दी। अब तो हमें आप दिव्य ब्रह्मविद्या सुना दीजिये। अध्यात्म विद्या का पाठ पढ़ा दीजिये, कुछ दार्शनिक चासनी चखा दीजिये ब्रह्मज्ञान अथवा भगवत् प्राप्ति किस मार्ग से हो उसे हमें सुझा दीजिये।

सूतजी ने कहा—मुनियों! यह प्रश्न तो आपने मेरी सामर्थ्य के बाहर कर दिया। न तो मुझे यह सब कहने का अधिकार है न मेरी इतनी शक्ति ही है। यही तो आर्य वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म की रीढ़ है। इसी के लिये तो समस्त शास्त्र हैं। सब शास्त्रों का एक मात्र उद्देश्य ब्रह्मज्ञान या भगवत् प्राप्ति ही तो है। इसे जिसने जान लिया, उसे जानने को कुछ भी नहीं रह जाता, और जिसने इसे नहीं जाना उसने कुछ भी नहीं जाना।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! अधिकार तो आपको हम सबने मिलकर प्रदान कर ही दिया है, सर्वज्ञ होने का आशीर्वाद तो आपको भगवान् संकर्षण से प्राप्त हो ही चुका है, अब आप हमें इसी विषय की कथा सुनावें।

सूतजी ने कहा—मुनियों! आप तो अपने मंत्रों के द्वारा, तप प्रभाव से पाषाण में देवत्व स्थापित कर सकते हैं। अयोग्य को योग्य बना सकते हैं, फिर मैं तो आपका सेवक हूँ। भगवन्! हमारे यहाँ एक शास्त्र नहीं, अनन्त शास्त्र हैं, विद्यायें भी अनेक हैं। शास्त्र रूपी महारण्य में जो एक बार भटका सो भटकता ही रहता है। उस महारण्य में अनेक छोटे बड़े, सीधे टेढ़े मार्ग हैं। इसीलिये आचार्यों ने तीन शास्त्रों को ब्रह्मविद्या का प्रस्थान-मार्ग बताया है। इसीलिये इन्हें *"प्रस्थानत्रयी"* कहा है। इन तीनों में (१) श्री मद्भगवत् गीता (२) उपनिषदें और (३) ब्रह्मसूत्र हैं। कोई कोई आचार्य श्रीमद्भागवत को भी इनमें जोड़कर "प्रस्थान चतुष्टय" मानते हैं। श्रीमद्भागवत में तो सम्पूर्ण वेद वेदांग, पुराण तथा इतिहास का सार सार भर दिया है। *प्रस्थानत्रयी* का

संक्षिप्त सार श्रीमद्भागवत में निहित है। अब उनका केवल विस्तार करना है। गीता ब्रह्मसूत्र और उपनिषदें इन्हीं तीनों को सभी आस्तिक वर्णाश्रमी वैदिक मार्गावलम्बी आचार्यों ने माना है। इन तीनों की ही जो व्याख्या कर दे, वही हमारे यहाँ आचार्य माना जाता था। हमारे यहाँ के आचार्यों ने इन तीनों में से ही भिन्न भिन्न वाद सिद्ध किये हैं। कोई तो कहते हैं, ये तीनों अद्वैत परक हैं। इनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया है। कोई कहते हैं नहीं, अद्वैत की तो इनमें गंध नहीं इनमें तो द्वैत ही द्वैत है। कोई कहते हैं न द्वैत है न अद्वैत इनमें तो विशिष्टाद्वैत है। कोई कहते हैं अजी, इनमें तो शुद्धाद्वैत का कथन है कोई कहते हैं, द्वैताद्वैत है, इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्यों ने इन्हीं के सूत्र श्लोकों से अपने अपने वादों की भित्ति खड़ी की है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! इनमें सबसे श्रेष्ठवाद कौन सा है उसे ही हमें सुनाइये।

सूतजी ने कहा—महाराज! सर्व श्रेष्ठ कौन है, इसे तो सर्वान्तर्यामी श्यामसुन्दर ही जाने हमारी दृष्टि में तो सभी श्रेष्ठ हैं, सभी का वाद सत्य है, सभी की युक्तियाँ अकाट्य हैं।

शौनकजी ने कहा—सूतजी! आपकी ये गोलमाल बातें ही तो हमें अच्छी नहीं लगतीं। महानुभाव! आप कथावाचकों का ऐसा दाव पेच चलाते हैं, कि उसमें किसी का खंडन-मंडन ही नहीं होता। आप सोचें—एक कहता है द्वैत, दूसरा उसका सर्वथा विपरीत कहता है अद्वैत। एक आकाश की ओर जाने को कहता है, दूसरा सर्वथा इसके प्रतिकूल पाताल का मार्ग बताता है। आप कहते हो दोनों सत्य हैं। होंगे अपनी अपनी दृष्टि में सत्य। किन्तु आपने भी तो इनमें से किसी को सर्व श्रेष्ठ चुना होगा। उसी को हमें सुनाइये। आप उन आचार्यों के अनुयायियों से डरते हैं क्या? कि उनका खंडन कर देंगे तो वे असन्तुष्ट हो जायँगे?

हो जायँ असन्तुष्ट। यदि असन्तुष्ट होने से ही डरते तो आचार्य गण परस्पर में एक दूसरे का खंडन मंडन ही क्यों करते। हमारे यहाँ तो सभी को बुद्धि का स्वातंत्रय दिया गया है। हमारे यहाँ आस्तिक भी आचार्य हैं नास्तिक भी आचार्य हैं। नास्तिक आचार्यों ने वेद का, ब्रह्म का, यज्ञयाग आदि सभी का खंडन किया है, उन चार्वाकादि ऋषियों को किसी ने मार नहीं डाला। बौद्ध दार्शनिकों ने शून्यवाद का प्रतिपादन किया है। सभी की बुद्धि भिन्न भिन्न है, सभी अपने अपने विचारों के लिये स्वतंत्र हैं। "वादे वादे जायते तत्वबोध" परस्पर में एक दूसरे के वाद को सुनकर विवाद करके—शंका समाधान द्वारा एक निर्णय पर पहुँचते हैं। आप जिस निर्णय पर पहुँचे हों, आपने इन सबमें जो सर्वश्रेष्ठ वाद समझा हो उसी वाद को हमें बतावें।"

हँसकर सूतजी बोले—महाराज ! आप सब ऋषियों की कृपा से न तो मैं किसी से डरता ही हूँ और न मैं गोलमाल बात ही कहता हूँ। भगवन् ! सर्वश्रेष्ठ मार्ग कौन सा है इसे तो सर्वान्तर्यामी के अतिरिक्त कोई जानता ही नहीं। सभी वादों के अनुयायी अपने ही वाद सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, और अपनी मान्यता के अनुसार फल भी पाते हैं, जब सर्वश्रेष्ठ की जानकारी सर्वान्तर्यामी ने अपने हाथ में ही रखी है, तो मैं आपको कैसे बताढूँ कि अमुक वाद सर्वश्रेष्ठ है। आप कहें तो मैं इस विषय को एक दृष्टान्त द्वारा समझा दूँ ?"

शौनकजी ने कहा—हाँ ! सूतजी ! दृष्टान्तों द्वारा विषय बहुत सरलता से बुद्धिगम्य हो जाता है। दृष्टान्त देकर ही हमें समझाइये।

सूतजी बोले—"मुनियो ! वाराणसी पुरी में एक बड़े ही ही सदाचारी धर्म परायण कर्मनिष्ट ब्राह्मण रहते थे। वे बड़े भगवत् भक्त तथा शास्त्रज्ञ थे। उनके पास एक बहुत दिव्य

लक्ष्मीनारायण नामक शालग्राम थे। लक्ष्मीनारायण शालग्राम में ऊपर नीचे दोनों ओर दो दिव्य चक्र होते हैं। ऐसी शालग्राम की वटिया बड़ी दुर्लभ होती है। उसकी पहिचान भी सब किसी को नहीं होती। जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं वे ही हाथ में लेकर बार बार देखकर निर्णय कर सकते हैं कि यह किस नाम की शालग्राम बटिया है। शालग्रामों में हजारों लाखों भेद हैं। लक्ष्मीनारायण नाम के शालग्राम की सबसे अधिक प्रशंसा है।

उन ब्राह्मण के पाँच पुत्र थे, पांचों ही धर्मात्मा बड़े योग्य सरल और विश्वासी थे। वे सुना करते थे हमारे पिता के पास एक अलय शालग्राम की वटिया है यदि पिताजी हमें दे जाते, तो हम भी उनकी पूजा करते। परन्तु किसी ने पिता से याचना नहीं की। पिता सबके मनका भाव जानते थे। वे यह भी जानते थे, कि एक को दे दूँगा। तो दूसरे बुरा मानेंगे। प्रसन्न उन्हें सभी को करना था, क्योंकि सभी उनके योग्य पुत्र थे। इसलिये उन्होंने एक उपाय सोचा।

एक सुयोग्य पंडित को बुलाकर उन्होंने मुक्तिनाथ के समीप दामोदरकुण्ड भेजा जहाँ शालग्राम मिलते हैं पंडितजी ने उन विद्वान से कहा—आप दामोदरकुंड जायँ और चाहें जितने दिन लगें—ऐसी ही लक्ष्मीनारायण की चार वटिया और ले आवें। कदाचित् लक्ष्मीनारायण शालग्राम न मिलें तो इनके अनुरूप ही चार वटिया ले आवें वे ऐसी हों कि सहसा उन्हें कोई पहिचान न सकें।

पंडितजी का आदेश प्राप्त करके वे विद्वान् दामोदरकुण्ड गये। छै महीनों तक वहाँ रहे, निरन्तर शालग्रामों में खोजते रहे। लक्ष्मीनारायण की बटियाँ तो मिली नहीं, किन्तु वे सवदा वैसे ही चार दिव्यशालग्राम और ले आये। पंडितजी को

कह दिया—महाराज, लक्ष्मीनारायण की बटिया तो मिलीं नहीं, किन्तु ये भी तत्सदृश ही हैं। सहसा कोई इन्हें पहिचान न सकेगा। पंडितजी ने वे चारों ले लीं और अपने पास रख लीं।

एक दिन उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र को एकान्त में अपने पास बुलाया। उस समय चारों भाई बाहर गये थे। पंडितजी ने कहा—'देखो भैया! तुम मेरे सबसे बड़े पुत्र हो, मेरे आज्ञा कारी हो, मैं अब संन्यास लेना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है, कि मेरे पास जो अलभ्य शालग्राम हैं। उन्हें तुम्हें दे दूँ। किन्तु उसमें तीन शर्तें हैं।

अत्यंत हर्षित होकर बड़े पुत्र ने कहा—पिताजी वे तीन शर्तें कौन सी हैं?

पिता ने कहा—(१)पहिली शर्त तो यह है,कि तुम नित्य श्रद्धा के सहित इनकी सेवा करते रहना। (२) दूसरी यह है कि किसी दूसरे को इसे हाथ से छूने मत देना। (३) तीसरी यह कि अपनी संतानों को जिनको तुम पूजा का अधिकार दे जाओ उनसे भी ये ही शर्तें करा के देना।

पुत्र ने पिता की बात स्वीकार करली। उनमें से एक बटिया उठाकर दे दी, वह पिता के पैर छूकर प्रसन्नता प्रकट करता हुआ चला गया।

इसी प्रकार उन्होंने क्रमशः पाचों पुत्रों को बुलाया। सभी से एकान्त में ये ही बातें कहीं सभी ने स्वीकार किया और सभी को एक एक बाटिया देकर वे सन्यासी हो गये। अब आप बतावें इन पाँचों में से किसके पास वह सर्वश्रेष्ठ बटिया है ?" सभी अपनी बटिया को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी श्रद्धा सहित पूजा करते हैं। किसी दूसरे को स्पर्श नहीं करने देते। उनके वंश परम्परा के अनुयायी श्रद्धा सहित उनके वचनों का पालन करते हैं। लक्ष्मी-

नारायण की सर्व श्रेष्ठ प्रतिमा इन पांचों में से किस पर है इसे पिता के अतिरिक्त दूसरा कोई जान ही नहीं सकता।

इसी प्रकार मुनियों ! ये सभी आचार्य भगवान् के अपने ही पुत्र हैं, सभी ने उन्हें ज्ञान दिया है। अद्वैतनिष्ठ के कान में कह देते हैं, मैं सर्वदा अद्वैत ही हूँ। द्वैतनिष्ठ से कहते हैं, तुमसे कोई कुछ कहे तुम मानना ही मत। मैं सर्वथा द्वैत हूँ। विशिष्टाद्वैत वाले से चुपके से कह देते हैं, देखना कोई कुछ कहे तुम मानना ही मत विशिष्ट अद्वैत में ही निष्ठा रखना।" सो, मुनियों ! अपनी अपनी मान्यता के अनुसार सभी सत्य हैं। भगवान् कहते हैं, जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से फल देता हूँ। इसलिये मुनियो ! सभी श्रेष्ठ हैं, सभी अपनी भावनानुसार फल पाते हैं, सभी का अपनी मान्यता से उद्धार होता है। अब आप पूछते हैं सर्वश्रेष्ठ कौन, तो इसे तो भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई जानता नहीं।

हँसकर शौनकजी ने कहा—सूतजी ? यह तो आपने कथा-वाचका दाव पेच फेंक दिया। आप इस दृष्टान्त से साफ निकल गये, किन्तु महानुभाव ! वे पंडितजी तो मनुष्य थे। उन्होंने तो अपने पुत्रों को फँसाने के लिये उनका उद्धार करने के ही लिये यह चाल चली। किन्तु भगवान् तो 'असत्य नहीं' बोल सकते वे तो ऐसी माया नहीं रच सकते।"

हँसते हँसते सूतजी ने कहा—महाराज ! आप कैसी बातें कह रहे हैं। भगवान् ही तो सबसे बड़े मायावी हैं। वे योग माया का आश्रय लेकर ही तो इस विश्वप्रपंच रूपी रास को रचा रहे हैं, वे ही तो माया के आश्रय से इन जीवों को नचा रहे हैं। उनके यहाँ झूठ सचमें कोई भेद नहीं। वे सत्य असत्यसे परे हैं। उनका छल कपट छल कपट नहीं माना जाता। यदि उनके छल कपट को

छल मानों तो भीष्मपितामह को कैसे छल से मरवाया ? द्रोणाचार्य के सामने स्वयं ही झूठ नहीं बोले किन्तु बेचारे धर्मराज को भी उलटी पट्टी पढ़ाकर द्रोणाचार्य को मरवाने को उनसे भी झूठ बुलवा दिया। कर्ण को किस तिकड़म से मरवाया। बर्बरीक का सिर कितनी बुद्धिमानी से काट लिया। वेदों में भगवान् का एक नाम 'मायावी' भी है। सबसे बड़े मायापति मायावी तो ये ही हैं। लोककल्याण के लिये ये सब कुछ कर सकते हैं। ये सब आचार्यगण इन्हीं के तो कला तथा अंशावतार हैं। इन्हीं की प्रेरणा से तो ये विभिन्न वादों को चलाते हैं, अनुयायी बनाते हैं।

शौनकजी ने पूछा—अच्छा, जाने दो सर्वश्रेष्ठ की बात। तुम स्वयं किस वाद को मनाते हो, तुम्हारा कौन सा वाद है। क्योंकि कोई भी पुरुष बिना वाद के रह नहीं सकता।

हँसते हुए सूतजी ने कहा—महाराज ! आप तो अब बाल की खाल निकालने लगे। अच्छा महाराज मेरा सर्ववाद है।

शौनकजी ने पूछा—सर्ववाद क्या ? यह तो आप फिर घपला करने लगे। जिसका सर्ववाद है, उसका समझो कोई वाद ही नहीं।"

सूतजी बोले—तो, भगवन् ! मेरे वाद को आप "अवाद वाद" कहिये। अवाद वाद का अर्थ यह हुआ, कि इन ग्रन्थकारों ने तो किसी एक वाद को लेकर इनकी रचना की नहीं। इनमें से आचार्यों ने अपने अपने मतानुसार वाद स्थापित कर लिए इसलिये या तो ये सभी वाद सत्य हैं या फिर वाद विवाद से परे रहना ही सत्य वाद है।

शौनकजी ने कहा—रहने भी दो सूतजी, आपसे वाद विवाद में तो कोई जीत नहीं सकता। अच्छा तो हमें आप पहिले प्रस्थानत्रयी की ही कथा सुनावें फिर उनका श्रीमद्भागवत के साथ

तुलनात्मक विवेचन करें। सर्वप्रथम हमें गीता की कथा व्याख्या के सहित सुस्पष्ट करते हुये सुनाइये। फिर गीता ज्ञान श्रीमद्-भागवत में कहाँ कहाँ किस रूप में है उसे तुलनात्मक दृष्टि से बतावें।

सूतजी ने कहा—अच्छी बात है, महाराज, सर्वप्रथम मैं आपका यथा शक्ति यथा सामर्थ्य गीता की ही कथा सुनाऊँगा। परन्तु भगवन्! मैं यह प्रतिज्ञा नहीं करता कि मैं उसका यथार्थ मर्म समझ गया हूँ, क्योंकि मेरे गुरु के गुरु भगवान् वेद व्यास-जी ने स्पष्ट शब्द में कह दिया है—"गीता के यथार्थ स्वरूप को मैं जानता हूँ, मेरा पुत्र शुकदेव जानता है। किन्तु मेरा शिष्य संजय जानता है या नहीं इस विषय में मैं ठीक ठीक नहीं कह सकता।⊛

भगवन्! जब मेरे पूर्वज दिव्यदृष्टि वाले संजय के विषय में भी संदेह है तो मेरी तो बात ही क्या? फिर भी पक्षी आकाश में उसका पता लगाने को उड़ता है, जिसकी जितनी सामर्थ्य होती है, वह उतना ही ऊँचा उड़ता है। आप सबकी मेरे ऊपर कृपा है। आप मुझसे कथा सुनते हैं, मेरी शैली की प्रशंसा करते हैं, इसी से मैं अपने को कृतार्थ समझता हूँ। उसी कृपा के वशीभूत होकर आपके प्रोत्साहन से उत्साहित होकर पहिले मैं सम्पूर्ण श्रीमद्भगवत गीता की कथा कहूँगा, तदनंतर गीता और भागवत की तुलनात्मक विवेचन करूँगा। ये सब अगले खंड गीता वार्ता के नाम से प्रसिद्ध होंगे। तो हाँ, अब आप श्रीभगवान् के मुखार-विन्द से निसृत गीता ज्ञानामृत का श्रद्धा और प्रेम के साथ अत्यंत स्वाद लेते हुए पान करें। तो अब गीता के प्रथमाध्याय की, और इसी प्रकार क्रमशः अठारहों अध्याय की कथा श्रवण करें।

⊛ अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्तिवानवा।

छप्पय

भगवत गीता ज्ञान गंग सम निरमल पावन।
जग-जनहित अवतरित ज्ञान शुभ स्रोत सुहावन॥
परा भक्ति अति विमल सुखद जीवनि हितकारी।
भक्ति भावना भरित भक्त भव भय संहारी॥
श्रीगीता अस भागवत, अनुपम अमल अनूप हैं।
भक्ति ज्ञान धारा धवल, दोऊ भगवत् रूप हैं॥

श्रीपार्थसारथये नमः

गीता-वार्ता

प्रथमोऽध्याय

अर्जुन विषादयोग

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥*

(श्रीभग० गी० अ० १ श्लो०)

छप्पय

श्रीराज धृतराष्ट्र कहैं-सँजय प्रति बानी ।
व्यास कृपातैं तुमनि सकल रन वार्ता जानी ॥
चल चित्रनि के सरिस लखौ घर बैठे सब तुम ।
अब सब देउ बताइ जथारथ जो पूछें हम ॥
धरमक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, सजि बजिकें सब नृप गये ।
सब क्षत्रिय रनबाँकुरे, रनहित सब बौरे भये ॥

यह संसार रणाङ्गण है, इस रणभूमि में ऐसा कोई नहीं है, जो युद्ध न कर रहा हो। कोई धर्म के साथ, कोई अधर्म के साथ। कोई धन के लिये, कोई काम के लिये और कोई मोक्ष के लिये

---

*महाराज धृतराष्ट्र संजय से पूछ रहे हैं—हे संजय ! कुरुक्षेत्र जो धर्मक्षेत्र है, उसमें युद्ध की इच्छा एकत्रित हुए मेरे और पाण्डु के पुत्र क्या करते भये ।

लड़ रहे हैं। नर का काम ही है लड़ाई करना युद्ध क्षेत्र में आवे और लड़े नहीं, समर भूमि में वैठे और रण से पराङ्मुख हो. यह हो ही कैसे सकता है। कभी-कभी मोहवश, कृपावश अथवा अज्ञानवश नर जुआ डाल देता है। युद्ध मे विरत होने की चेष्टा करता है, विषण्णवदन होकर अस्त्र-शस्त्र डाल देता है। उस समय नर के सखा 'सनातन' उसे युद्ध के लिए प्रोत्साहित करते हैं। युद्ध को आवश्यक धर्म बनाते हैं और धर्म का मर्म जताते हैं, उसे लड़ने को प्रेरित करते हैं। नर विषण्ण हो जाता है। नारायण हँसते रहते हैं। जीव का धर्म ही है चिन्ता करना, विषाद करना तथा विषाद से विह्वल होना।ईश्वर का स्वभाव है.प्रसन्न रहना, हँसते रहना। चिंता में रोना आता है,हँसी में गीत प्रस्फुटित होता है। जीव का धर्म है रोना, ईश्वर का धर्म है हँसते हुये गीत गाना। भगवत् धर्म होने से भगवान के गाये गीत को भगवद्गीता कहते हैं। उस भगवद्गीता को जिसने समझ लिया, उसका मोह नष्ट हो गया। मैं नारायण का सनातन सखा हूँ, यह जो उसे विस्मृति हो गयी थी, उसकी स्मृति पुनः जागृत हो जाती है। यह सब भगवत प्रसाद से प्रभु कृपा से ही संभव है। जीव अपने पुरुषार्थ से शिव को कैसे समझ सकता है। जिसे वे ही जताना चाहें वही जान सकता है। वही भगवत आज्ञाओं का पालन कर सकता है। उसे जयशील जिसकी सदा जय होती रहती हो, जिसकी कभी पराजय न हो, वही कह सकता है। पूछने वाला प्रज्ञाचक्षु होना चाहिये। जिसने बलपूर्वक राष्ट्र पर अधिकार कर लिया हो अर्थात् जो धर्म का मर्म जानता तो हो किन्तु मोहवश उसका पालन करने में अपने को असमर्थ पा रहा हो। वही पूछता है। शौनकजी के गीता सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर सूतजी ने कहा—मुनियों! भरत-वंश में शन्तनु नामके राजा हो चुके हैं उनका विवाह भगवती सुरसरि गंगाजी से

हुआ। उनके गर्भ से आठ पुत्र अष्टवसु उत्पन्न हुये। सात को तो जन्मते ही गंगादेवी ने परलोक पठा दिया। आठवें शेष रहे। उनका नाम देवव्रत था। वे बड़े धर्मात्मा, शूर-वीर तथा पितृभक्त थे। उनको उत्पन्न करके उनकी माँ गंगा अन्तर्हित हो गईं। उनके पिता निषाद की पालिता पुत्री पर आसक्त हो गये। निषाद से जब महाराज ने विवाह का प्रस्ताव किया तो निषाद ने इस शर्त पर कन्या देना स्वीकार किया कि मेरी पुत्री से जो पुत्र हो वही राज्य का अधिकारी हो। इतने योग्य ज्येष्ठ पुत्र के रहते पिता कैसे इस प्रस्ताव को स्वीकार करते। वे उदास होकर चले आये। राजकुमार को जब यह वृतान्त विदित हुआ तो उन्होंने निषाद के सम्मुख यह भीषण प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह न करूँगा, आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। इस पर निषाद ने अपनी कन्या राजकुमार के पिता के निमित्त दे दी। पुत्र ने अपने पिता का विवाह कराया। भीष्म प्रतिज्ञा करने के कारण जगत् में भीष्म के नाम से विख्यात हो गये। निषाद कन्या सत्यवती के गर्भ से दो पुत्र हो गये। एक का चित्रांगद, दूसरे का विचित्र वीर्य नाम रखा गया। एक तो बाल्यकाल में ही युद्ध में मारे गये। दूसरे का विवाह भीष्म ने काशिराज की दो कन्याओं से कराया। वे भी राजरोग से परलोक-वासी हुये तब सत्यवती के कानीन पुत्र भगवान् व्यास से विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियों से आपद धर्म समझकर दो पुत्र उत्पन्न कराये। बड़े का नाम धृतराष्ट्र था जो जन्मान्ध थे। छोटे का नाम पाण्डु था जो वर्ण में पीतवर्ण के थे। जन्मान्ध होने से बड़े होने पर भी वे सिंहासन के अनधिकारी हुये। पाण्डु ही भरतवंश के सिंहासन पर बैठे। वे बड़े मृगया प्रेमी थे। अतः राज्य की देख रेख अपने बड़े भाई को सौंपकर वन चले गये। वहाँ उनके धर्म, वायु, इन्द्र के द्वारा कुन्ती में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन और माद्री

में अश्विनीकुमारों द्वारा नकुल और सहदेव ये दो इस प्रकार पाँच पुत्र हुये। ये पाण्डव कहलाये। धृतराष्ट्र के परम बुद्धिमान मन्त्री का नाम संजय था। वे सूत जाति के थे। महाराज पाण्डु के परलोक गमन के अनन्तर वहाँ के ऋषि गण पाँचों पाण्डवों को और महारानी कुन्ती को हस्तिनापुर में भीष्म के समाप पहुँचा गये। नकुल सहदेव की माता माद्री अपने पति के साथ सती हो गई। अतः पाँचों पाण्डवों का पालन-पोषण कुन्ती ने किया। इन पाँचों भाइयों में अत्यन्त स्नेह था। दुर्योधनादि सौ भाई थे। यद्यपि महाराज पाण्डु अपने अन्धे भाई धृतराष्ट्र को राज्य दे नहीं गये थे। वे तो अन्धे होने के कारण राज्य के अनाधिकारी थे फिर भी राज्य पर अधिकार धृतराष्ट्र का ही था। अन्धे होने के कारण राज-काज दुर्योधन ही करता था। अब राज्य के प्रधान अधिकारी पाण्डव आ गये। दुर्योधन चाहता था इन्हें मरवाकर निष्कंटक राज्य करु। राज्य के प्रधानमंत्री विदुरजी थे। वे पाण्डवों से स्नेह करते थे। कौरवों ने षडयंत्र रचकर पांडवों को लाक्षा-गृह भेज दिया। भेजने के पश्चात मरवाना चाहा। किन्तु विदुर-जी की कुशलता से तथा भगवान् की कृपा से पाँचों पाण्डव अपनी माता कुन्ती के सहित वहाँ से छिपकर भाग गये। और ब्राह्मण वेष में भिक्षा पर निर्वाह करते हुये आपद्धर्म का पालन करने लगे। १२ वर्ष वेष बदलकर घूमते रहे। दुर्योधन ने समझा ये सब मर गये। उसने झूठे आँसू बहाये और बड़ी धूमधाम से दिखावे के लिये उनके श्रद्धादि कर्म भी कर दिये। ब्राह्मणों को बहुत दान भी दिया। महाराजद्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अयोनिजा-द्रौपदी के स्वयंवर में ब्राह्मण वेष धारी अर्जुन ने द्रुपद की प्रतिज्ञानुसार मत्स्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त कर लिया। वह पाँचों पाण्डवों की पत्नी हुयी। बहुत कहा सुनी के पश्चात धृतराष्ट्र ने आधा राज्य पाण्डवों को दे दिया। वे

इन्द्रप्रस्थ में राजधानी बनाकर बड़ी धूमधाम से राज्य करने लगे। वहीं धर्मराज ने सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ किया। दुर्योधन उस यज्ञ में भेंट लेने पर नियुक्त था। पाण्डवों के ऐसे अपूर्व अद्भुत ऐश्वर्य को देख कर उसके मन में बड़ा डाह उत्पन्न हुआ। उसने अपने मामा शकुनी की सहायता से द्यूत सभा बनाकर पाण्डवों को जीत लिया। उन्हें बारह वर्ष वनवास देकर और एक वर्ष का अज्ञातवास देकर राज्य से निकाल दिया। उन दिनों युद्ध की भाँति जुआ भी क्षत्रियों के लिये धर्म माना जाता था। प्रण के अनुसार १२ वर्ष तक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करने के पश्चात जब पांडवों ने अपना राज्य माँगा तो दुर्योधन ने भाँति भाँति के बहाने बनाकर राज्य देने से मना कर दिया। शान्ति के लिये पांडवों ने अनेक उपाय किये। स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर कौरवों की सभा में गये। केवल पाँच भाइयों के लिये पाँच गाँव माँगे। वह भी दुर्योधन के आधीन रहकर केवल निर्वाह के लिये क्षात्रय धर्म की रक्षा के लिये। दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया मैं युद्ध के बिना सुई की नोक जितनी भूमि छिद जाती है उतनी भूमि भी न दूँगा। तब दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों ही धर्मतः भगवान् व्यासजी के पुत्र थे। उन्होंने देखा युद्ध अवश्यं भावी है तो वे धृतराष्ट्र के समीप गये और बोले—बेटा! युद्ध दुर्बुद्धि दुर्योधन के कारण अवश्य होगा। ये नृपतिगण विकराल काल के गाल में जाने वाले हैं। मैं योगबल से सब देख रहा हूँ तुम चिन्ता मत करना।

धृतराष्ट्र ने कहा प्रभो! मेरे सामने यह अनर्थ होगा। अन्धा होने के कारण मैं प्रत्यक्ष नहीं देख सकता फिर भी व्यासजी ने कहा—राजन्! यदि तुम युद्ध प्रत्यक्ष देखना चाहो तो मैं अपने योग बल से तुम्हें दृष्टि दे सकता हूँ। धृतराष्ट्र ने कहा

प्रभो ! जब जीवन भर मैंने नहीं देखा तो अन्तिम समय इन फूँटी आँखों से अपने कुल का नाश क्यों देखूँ। किन्तु मैं युद्ध का वृत्तान्त अवश्य सुनना चाहूँगा। सर्वज्ञ सर्व समर्थ व्यास भगवान् ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हारे निजी सचिव सूत संजय को दिव्य दृष्टि दिये देता हूँ। ये घर बैठे युद्ध की सभी वातों को प्रत्यक्ष देख सकेंगे। इनसे कोई बात छिपेगी नहीं। तुम अपने पुत्रों के लिये शोक मत करना मैं महाभारत लिखकर इनकी कीर्ति को अमर कर दूँगा।

जब युद्ध में भीष्म पितामह मारे गये तब धृतराष्ट्र को युद्ध के सम्पूर्ण वृत्तान्त को जानने की इच्छा हुई।

उन्होंने संजय ! से पूछा संजय। मेरे पुत्रों का तथा पाण्डु के पुत्रों का जो यह युद्ध हो रहा है युद्ध के सभी वृत्तान्त मुझे सुना दो।

इस पर शौनकजी ने पूछा सूतजी ! कुरुक्षेत्र को धर्म क्षेत्र क्यों कहा गया और इस कुरुक्षेत्र में ही युद्ध क्यों हुआ।

इस पर सूतजी कहने लगे—"मुनियों ! सभी कार्यों के लिये विशेष विशेष स्थान नियुक्त होता है। देश का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है ऐसी किंवदन्ती है कि एक बार अर्जुन और श्रीकृष्ण यह देखने के लिये चले कि युद्ध किस स्थल पर हो। युद्ध भाई भाइयों में ही है, दोनों ओर सभी अपने सगे सम्बन्धी ही हैं। युद्ध के समय मोह ममता आ गयी तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। स्थान कोई ममता शून्य माया मोह से रहित होना चाहिये। उन दिनों कुरुक्षेत्र केवल अरण्य नहीं था। वहाँ तीर्थ स्थान, सरोवर, मन्दिर, वापी कूप खेती आदि सभी थे। भगवान् ने देखा एक कृषक की पत्नी रोटी लाई है। कृषक खेतों में पानी दे रहा था। अपनी स्त्री से उसने कहा—तू तब तक मेरे पानी को देख तब तक रोटी खा लूँ। स्त्री पानी देखने

लगी। कृषक रोटी खाता रहा। स्त्री के गोद में ५-७ महीने का बच्चा था। एक स्थान से पानी फूटने लगा। स्त्री बार-बार उसमें मिट्टी डाले वह वह जाय। तब झट उसने अपने गोद से बच्चे को उठाकर उस स्थानपर रख दिया। पानी रुक गया, बच्चे को मर हो जाना था। मृतक पुत्र को वैसे ही लगा छोड़कर चली आयी। तब भगवान् ने कहा—पार्थ! यही स्थान उपयुक्त है। उसी स्थान को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया। से युद्ध स्थल-रहा है। सत्ययुग में विश्वामित्र वशिष्ठ ने यहीं तप किया और यहीं दोनों में युद्ध हुआ। भगवान् परशुराम ने क्षत्रियों के रक्त से पाँच बड़े कुण्ड भरकर उसी रक्त से पितरों का तर्पण किया था। यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्रादि-देवों ने बड़े-बड़े यज्ञ किये। महर्षि भृगु ने यहाँ तपस्या की थी। इसलिये यह भृगुक्षेत्र के नाम से भी विख्यात हुआ। महाराज कुरु ने इस क्षेत्र को कृषि योग्य बनाया तभी से यह धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। पुराणों में इसकी कथा इस प्रकार है। भरतवंश में महाराज कुरु बहुत ही धार्मिक एवं प्रजा-वत्सल सम्राट थे। प्रजा में धर्म भावना जागृत हो तथा लौकिक धन-धान्य की समृद्धि हो इस हेतु उन्होंने इस क्षेत्र को आध्या-त्मिक शिक्षा तथा तप, शौच, दया, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य अष्टाङ्ग धर्म की कृषि करने का निश्चय किया। वे सुवर्ण मण्डित रथ पर बैठकर यहाँ आये। उन्होंने उसी सुवर्ण का हल बनवाया। अब हल तो बन गया उसे खींचे कौन-शिवजी ने बैल दिया। यमराज के भैंसा ही था उन्होंने भैंसा दिया। राजा इस क्षेत्र को धर्मपूर्वक जोत रहे थे। उसी समय इन्द्र आये और बोले—राजन्! बीज क्या बोओगे? राजा ने कहा—बीज तो मेरे पास ही है। इन्द्र चले गये। राजा सात कोस भूमि प्रतिदिन कृषि के निमित्त जोत लेते थे। इस प्रकार ४८ कोस भूमि को वे कृषि

योग्य बना सके। राजा के परिश्रम को देखकर विष्णुजी आये। उन्होंने पूछा—राजन् ! भूमि तो तैयार हो गई बीज कहाँ है।

राजा ने कहा—प्रभो ! मेरे पास है। भगवान् ने कहा उसे अर्पण कर दो। 'ग्रहण करें प्रभो' ऐसा कहकर राजा ने दायाँ भुज फैलाई। भगवान् ने चक्र से उसे टुकड़े टुकड़े करके बो दिया। क्रमशः बाईं भुजा दोनों पैर और अन्त में सिर भी दे दिया इस प्रकार राजा ने सर्वस्वार्पण कर दिया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्हें जीवित करके उनसे वर माँगने को कहा। राजा ने ४ वर माँगे—प्रथम, यह कि जितनी भूमि मैंने जोती है अर्थात् ४८ कोस की यह भूमि परम पुण्य क्षेत्र हो जाय मेरे नाम से विख्यात हो। २–द्वितीय,यह कि शिव सदा यहाँ समस्त देवताओं सहित निवास करेंगे। ३–तृतीय यहाँ जो कुछ शुभ कर्म किये जायँ वे अक्षय हों। ४–चौथा, यह कि जो भी यहाँ मृत्यु को प्राप्त हो वह अपने पाप पुण्य के प्रभाव से रहित होकर स्वर्ग-गामी हो। भगवान् ने चारों वर दिये। तभी से यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र के नाम से विख्यात हुआ। ब्रह्माजी ने सोचा—ये कलियुगी क्षत्रिय घरों में खाट पर पड़े-पड़े मरेंगे तो नरक होगा। क्षत्रिय को समर मे हँसते-हँसते प्राण देना चाहिये। महाभारत का युद्ध धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में इसीलिये कराया कि जो मरे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो। यह धर्म की लड़ाई थी। धर्मराजजी स्वयं लड़ने वाले थे। लड़ने वाले कुरुवंश के थे अतः कुरुक्षेत्र में लड़ाई हुयी। ये वहाँ तीर्थ यात्रा बुद्धि से नहीं युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुये थे। महाराज धृतराष्ट्र ज्ञानी थे फिर भी सम्बन्धियों में कुछ ममत्व था। इसीलिये दुर्योधन को मेरे पुत्र कहते हैं। पाण्डवों को पाण्डु पुत्र कहकर जिज्ञासा करते हैं और पूछते हैं वे क्या करते भये।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! अंधे धृतराष्ट्र संजय से पूछ रहे हैं—संजय ! धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित

हुए मेरे और पाण्डु के पुत्र क्या करते भये ? अब इस प्रश्न का उत्तर संजय जो धृतराष्ट्र को देंगे इसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप समाहित चित्त से सुनने की कृपा करें।

छप्पय

मेरे सौ सब पुत्र युद्ध हित उत्सुक डोलें।
पर पहानि तें कुपित होहिं कटु बानी बोलें॥
पाण्डु पुत्र हैं पाँच धरम रत सब व्रतधारी।
तिनकी रक्षा करें नन्द नन्दन गिरधारी॥
समर भूमि में समरहित, सबई सम्बन्धी सगे।
सकल सुसज्जित शस्त्र तैं, संजय का करिबे लगे॥

सैन्यावलोकन दुर्योधन द्वारा

[४]

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥
पश्यैतां पाण्डु पुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥*

(श्रीभग० गी० अ० १ श्लो० २, ३

छप्पय

संजय कहिवे लगे—बताऊँ सब कछु भूपति ।
दुरजोधन ने लखी पांडवनि की सेना अति ॥
लखि सैनिक उत्साह सुयोधन ह्वैकें चिंतित ।
द्रोणाचार्य समीप गयो सोचत व्याकुल चित ॥
उभय दलनि में वीर को, प्रश्न हिये में नृप जग्यो ।
चरन बन्दि गुरुदेव के, राजा यों कहिवे लग्यो ॥

यह सम्पूर्ण संसार सहयोग पर ही अवलम्बित है। संसा

---

*संजय कहने लगे—महाराज ! तब राजा दुर्योधन पांडवों की सेना के व्यूह को देखकर श्री आचार्य द्रोण के समीप जाकर यह वचन बोलते भये—हे आचार्य ! पांडवों की बड़ी भारी सेना के व्यूह को तो आप देखें । इसकी व्यूह, रचना आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद के पुत्र ने की है ।

में कोई भी आदमी ऐसा नहीं जो अकेले ही कार्य कर सके। किसी कार्य को करने के निमित्त कुछ न कुछ साधन जुटाने ही पड़ते हैं, किसी न किसी से सहायता लेनी ही पड़ती है। मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये सब कुछ करने को तत्पर हो जाता है, आवश्यकता पड़ने पर असम्माननीयों का सम्मान करता है, जहाँ न जाना चाहिये वहाँ जाता है, जिस समय जो कार्य वर्जित है उसे भी करने को उद्यत हो जाता है। स्वार्थ में मनुष्य अन्धा हो जाता है। मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। एक तो (१) परोपकारी महा पुरुष। वे तो अपना कोई निजी स्वार्थ रखते ही नहीं। उनके सब कार्य परोपकार की दृष्टि से, चराचर में व्याप्त प्रभु की सेवा बुद्धि से करते हैं। वे अपने निजी सभी स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर जिससे जनता रूपी जनार्दन की सेवा हो सके, अह-र्निश उन्हीं कामों में लगे रहते हैं। वे मान अपमान को समान समझते हैं। (२) दूसरे वे जो अपना स्वार्थ भी साधते हैं और परोपकार भी करते हैं। अपने स्वार्थ में विघ्न न पड़े, साथ ही किसी को हानि भी न हो। अपने स्वार्थ का ध्यान रखकर जितना उनसे होता है परोपकार करते हैं। (३) तीसरे वे जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त दूसरों का बड़े से बड़ा अपकार कर सकते हैं। अपने स्वार्थ मे जब तक व्याघात नहीं होता तब तक वे नहीं बोलते, जहाँ अपने स्वार्थ पर कुछ आँच आई कि वे दूसरों के स्वार्थों की परवाह नहीं करते। ऐसे लोगों को दूसरों का थोड़ा धन भी बहुत दिखाई देता है दूसरों की थोड़ी उन्नति भी बहुत दिखायी देती है, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को वे बढ़ने देना नहीं चाहते। चारों ओर से किले बन्दी करके उन्हें पदाक्रान्त करने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं (४) चौथे ऐसे भी होते हैं दूसरों की उन्नति देख ही नहीं सकते। उनका चाहे अपना कोई स्वार्थ सधता भी न हो, बिना बात ही अपनी हानि करके भी दूसरों को कष्ट

पहुँचाते हैं। उनके स्वार्थों को नष्ट कर देते हैं। उन्हें दूसरों को विपत्ति में देखकर आनन्द आता है। दूसरों का अपशकुन हो इसके लिये वे अपनी आँख फोड़कर काने बनकर वे यात्र उनका अपसकुन करते हैं। दुर्योधन तीसरी श्रेणी के ही व्यक्तियों में था।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र ने अपने सारथी सचिव संजय से कौरव पाण्डवों के युद्ध के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब परम बुद्धिमान संजय बड़ी शिष्ट भाषा में कहने लगे। सामान्य तथा राजा शासक को कहते हैं फिर चाहें वह एक ही ग्राम का शासन क्यों न करता हो। राजा दो प्रकार के होते हैं, एक तो मूर्धाभिषिक्त दूसरे अमूर्धाभिषिक्त। मूर्धाभिषिक्तराजा राज सिंहासन पर बैठते हैं उनके छत्र लगता है, दोनों ओर चमर डुलाये जाते हैं। अमूर्धाभिषिक्त राजा सिंहासन पर तो बैठते हैं, किन्तु उनके छत्र चमर नहीं लगता। सामान्यतया राजा शब्द सभी क्षत्रियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। उन क्षत्रियों में जो मूर्धाभिषिक्त होगा उसे महाराजा कहेंगे। जिसके चरणों में मूर्धाभिषिक्त राजा भी आकर नतमस्तक हों वह महाराजाधिराज कहलाता है। वैसे राजा शब्द सामान्य रूप से सभी क्षत्रियों के लिये आता है चाहें वह सामान्य हो महाराजा हो या महाराजाधिराज हो।

नियमानुसार धृतराष्ट्र महाराजा नहीं थे, पांडु तो उन्हें न्यासभूत राज्य दे गये थे, किन्तु वे मर गये, जिसकी लाठी उसका भैंस जिसने अधिकार जमा लिया वही अपने को अधिकारी समझने लगा। धृतराष्ट्र अन्धे होने से राजकाज करते नहीं थे। दुर्योधन अपने सभी भाइयों से बड़ा था, अतः वही राजकाज करता था, सभी उसे ही 'महाराज' कहा करते थे किन्तु उसके पिता जीवित थे पिता क जीवित रहने पर सामान्य स्थिति

में बड़ा पुत्र युवराज और सब भाई महाराज कुमार कहलाते थे। किन्तु स्वार्थी लोग दुर्योधन को महाराज ही कहते थे। अब संजय धृतराष्ट्र के सम्मुख कह रहे हैं इसलिये दुर्योधन को महाराज न कहकर केवल राजा ही कह रहे हैं। अर्थात् महाराज तो आप ही हैं, किन्तु आपका पुत्र राजकाज करता है, इससे वह राजा ही है। संजय ने कहा—महाराज! जब दोनों सेनायें व्यूह रचना करके खड़ी हुईं तो राजा दुर्योधन ने पहिले अपनी सेना की ओर न देखकर शत्रु की सेना को ही देखा। देखकर उसकी आँखें फट गयीं। दृष्टि चौंधिया गयी। वह दौड़ा दौड़ा आचार्य द्रोण के समीप गया और उनसे विनय पूर्वक कहने लगा—गुरुवर! आप इन पांडवों की बड़ी भारी सेना को तो देखें।"

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! दुर्योधन की सेना ग्यारह अक्षोहिणी और पांडवों की सेना केवल सात अक्षोहिणी। महती सेना तो कौरवों की थी, फिर दुर्योधन अपने आप ही बड़े संभ्रम और आश्चर्य के साथ पांडवों की सेना को महती सेना क्यों बता रहा है। यह आरंभ में ही दुर्बलता दिखाना हुआ।

हँसकर सूतजी बोले—महाराज! इसे दुर्बलता नहीं कहते डाह कहते हैं। स्वार्थी लोगों को प्रतिपक्षी की तनिक सी उन्नति भी बहुत बड़ी उन्नति दिखायी देने लगती है। उसे नष्ट करने को वे समर्थ लोगों को उभाड़ते हैं कि वे उनकी उन्नति को नष्ट कर दें। दुर्योधन ने जब सुव्यवस्थित ढंग से पांडवों की सेना को उत्साह पूर्वक खड़े देखा तो उसके हृदय में जलन हुई। यह तो वह जानता ही था, कि संख्या में मेरी सेना से पांडवों की सेना कम है, किन्तु सेना की व्यूह रचना, सैनिकों का अदम्य उत्साह, खड़े होने और चलने आदि की सुव्यवस्था इनमें मेरी सेना से

अधिक है। अतः उसने सर्वप्रथम इसका कारण खोजा। उसे पता चला यह सब सेनापति की बुद्धिमत्ता के ऊपर निर्भर करता है। जिस सेना का सेनापति युवक, उत्साही, शिक्षित, बुद्धिमान तथा देश, काल और पात्र के बलाबल का ज्ञाता हो वह संख्या में चाहे कम सेना वाला ही क्यों न हो, विजय श्री उसी का वरण करती है। उसने सोचा—यह सब पांडवों के सेनापति धृष्टद्युम्न की बुद्धिमत्ता का परिणाम है। फिर उसने सोचा धृष्टद्युम्न पर यह कला कौशल आया कहाँ से,उसने यह युद्ध चातुरी सीखी कहाँ? तब उसे तुरन्त द्रोणाचार्य का स्मरण हो आया। धृष्टद्युम्न तो द्रोणाचार्य का शिष्य है। शिष्य तो हम सब भी उन्हीं के हैं, किन्तु हम ऐसी व्यूह रचना नहीं कर सकते। तब हमारी सेना की व्यूह रचना पांडवों की सेना से श्रेष्ठ कैसे हो, उसने सोचा चोर को न मारकर चोर की मां को ही मार दो, जिससे आगे चोर हो ही नहीं। चेला की शरण में न जाकर गुरु के ही पैर दबाओ जो उस चेले से भी बढ़कर हमें विद्या सिखा दे। यही सोचकर उसने सोचा—द्रोणाचार्य को बुलाकर उनसे यह बात कहूँ। फिर उसने सोचा—द्रोणाचार्य को यहाँ अपने शिविर में बुलाऊँगा तो वे राजाज्ञा समझकर आ तो जायँगे, किन्तु मन में सोचेंगे अवश्य यह क्षत्रिय मैं ब्राह्मण तिस पर भी मेरा शिष्य! इसने मुझे साधारण नौकर की भाँति बुला भेजा। कहेंगे तो कुछ भी नहीं किन्तु सन्तुष्ट न होंगे, मेरे प्रति ममत्व न रखेंगे। यदि मैं स्वयं उनके समीप चलता हूँ, तो वे इसमें अपना गौरव समझेंगे, मुझे शिष्ट और विनयी मानेंगे, मेरे प्रति अपनापन दर्शावेंगे और मैं जो कहूँगा उसे उत्साह पूर्वक मान लेंगे। मेरा बिगड़ता ही क्या है, मर्यादा का पालन भी हो जायगा और मेरा स्वार्थ भी सध जायगा। यही सोचकर वह बिना सेवकों के साधारण वेष में ही द्रोणाचार्य के शिविर में चला गया।

अपने यहाँ अकस्मात राजा दुर्योधन को आया देखकर द्रोणाचार्य चकित रह गये, उन्होंने बड़े उत्साह के साथ प्रेमपूर्वक उसका स्वागत किया। वह भी श्रद्धा पूर्वक आचार्य की चरण-वन्दना करके उनके बताये हुए आसन पर बैठ गया।

आचार्य ने बड़े स्नेह से उसकी पीठ थपथपाते हुए पूछा—कहो, राजन् ! कैसे कष्ट किया ? कोई विशेष बात तो नहीं ?"

दुर्योधन ने कहा—नहीं, महाराज! वैसे ही दर्शनार्थ चला आया। मुझे तो आपकी सफल विद्या को देखकर आश्चर्य हो रहा है हँसते हुए द्रोणाचार्य ने कहा—क्यों भैया तुमने मेरी सफल विद्या का क्या चमत्कार देखा ?

दुर्योधन ने उत्साह पूर्वक कहा—आप देखते नहीं हैं, पांडवों की यह सजी बजी सेना कैसे सुव्यवस्थित ढंग से खड़ी है, इसकी व्यूह रचना कितनी सुन्दर ढंग से हुई है।

द्रोणाचार्य ने कहा—तो इसमें मेरा क्या हाथ है, यह तो उधर के सेनापति धृष्टद्युम्न का कला कौशल है। उसकी सूझबूझ और बुद्धिमानी का परिणाम है।

दुर्योधन ने दुगुने उत्साह से कहा—महाराज ! धृष्टद्युम्न पर यह कला कौशल आया कहा से, यह विद्या वह लाया कहाँ से, है तो आपका ही शिष्य। कहावत है "मेरे ही घर तैं आग लायी नाम धरयो वैसान्दर" अर्थात् अग्नि मेरे ही घर से ले आयी थी, अब उसे अग्नि न कहकर वैश्वानर कहने लगो। आपकी ही विद्या का तो वह उपयोग कर रहा है। आपने ही तो उसे सिखाया है। यह अवश्य है, कि वह बुद्धिमान अधिक है हम लोग भी आपके ही शिष्य हैं किन्तु हम सब उतने बुद्धिमान नहीं निकले। हम सट्ट पट्ट ही रह गये, इसीलिये इतनी सुन्दर व्यूह रचना नहीं कर सके, किन्तु हमारा सौभाग्य है, हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं, जो उधर के सेनापति के गुरु ही हमारे रक्षक त्राता और

सर्वस्व हैं। वे उससे भी बढ़कर व्यूह रचना कर देंगे। प्रशंसा की बात तो यही रहेगी कि आपकी व्यूह रचना उससे भी बढ़कर हो, जिसमें लोग यह न कहने लगें कि गुरु तो गुड़ ही रह गये चेला शक्कर बन गये।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! दुर्योधन ने ऐसे घुमा फिराकर बातें क्यों की।

सूतजी बोले—महाराज! स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये बड़े लोगों को ऐसे ही उभाड़ा करते हैं। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक छोटी सी कथा सुनाता हूँ। एक विद्युन्माली नाम का असुर था। उसने शिवजी की बहुत दिनों तक घोर तपस्या करके अत्यधिक आराधना की। आशुतोष भगवान् शिव प्रसन्न हुए और असुर से वर माँगने को कहा। असुर ने कहा मुझे एक ऐसा कामग विमान दीजिये। जो जहाँ चाहे जा सके, जो आकाश में इच्छानुसार उड़ सके।"

शिवजी ने उसे ऐसा ही वरदान दे दिया अब तो वह असुर देवताओं के लिये अजेय हो गया। मनमानी करने लगा, जहाँ चाहता चला जाता, जिसे चाहता जीत लेता।

एक दिन सूर्यनारायण का भी उसने सामना किया, उन्होंने अपनी तीक्ष्ण किरणों से विमान को जला दिया। अब तो असुर बड़ा दुखी हुआ। वह शिवजी के पास गया और विनीत भाव से कहने लगा—देखिये, महाराज! सूर्य ने आपके दिये हुए विमान को जला दिया। इसमें मेरा तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं सूर्य ने आप को ही नीचा दिखाया है, आपके ही वर को चिनौती दी है। इसमें आपका ही अपमान है। ऐसी अनेकों बातें कह कर उसे विद्युन्माली असुर ने शिवजी को सूर्य के प्रति उभाड़ा था वैसे ही असुर रूप में राजा बने दुर्योधन ने अनेकों बातें कहकर द्रोणाचार्य को पांडवों के सेनापति धृष्टद्युम्न के

विरुद्ध उभाड़ना चाहा। वह भीष्मपितामह के समीप नहीं गया, इसलिये कि वे वृद्ध हैं, अपने बाबा हैं, प्रधान सेनापति हैं। उनसे शिष्टता, संकोच, भयमें बातें करनी पड़ेगी। वे बीच में डॉट भी सकते हैं। उनसे खुल कर बाते भी नहीं कर सकते। द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं, इस नाते भीष्मपितामह भी उनका आदर करते हैं,उन्हे प्रणाम करते हैं। वे सब प्रकार से भीष्मपितामह को समझा सकते है, उन्हें बुला सकते हैं। फिर आचार्य द्रोण प्रसन्न हो गये, तो हमारी विजय निश्चय है। अतः पांडवों की सेना को बड़ी भारी सेना बता कर उसके मुख्य मुख्य योद्धाओं के भी नाम बताता है, जिस से द्रोणाचार्यजी यह कहदे—"अर भैया दुर्योधन तू घबड़ाता क्यों है, जिनको तू महान योद्धा महारथी बता रहा है, ये सब तो मेरे सामने तृण के समान है। इसीलिये वह पांडव सेना के मुख्य मुख्य वीरों का नाम गिनाता है।

छप्पय

बोल्यो आदर सहित लखें गुरु सेना भारी।
शत्रु पक्ष के बीर भूमिपति अति व्रतधारी॥
कैसी रचना करी व्यूह की अनुपम सुन्दर।
निरखि निरखिकें क्षोभ होहि मेरे हिय द्विजवर॥
धृष्टद्युम्न ने कला तें, करी व्यूह रचना सुघर।
जो तुमरो ही शिष्य है, बुद्धिमान अति गुणाकर॥

पाण्डव पक्षीय प्रमुख शूरवीर

[५]

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुन समा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० ४, ५ श्लोक)

छप्पय

परम सुसज्जित सजी सजी सेना सब इनकी।
शूरवीर रनधीर करूँ का उपमा तिनकी॥
अरजुन भीम समान प्रबल जोद्धा धनुधारी।
सात्यकि और विराट शत्रु सेना संहारी॥
जिनके बलतें बली बनि, पाण्डव सब निश्चिन्त हैं।
दर्प दलन दल अरि द्रुपद, संग सचिव सामन्त हैं॥

सामान्यतया जीव का स्वभाव है, वह प्रायः दूसरों की प्रशंसा नहीं करता। जीव में एक सातिशय दोष होता है। अपने से उन्नत

---

* दुर्योधन द्रोणाचार्यजी से कह रहा है— पांडवों की सेना में जो शूरवीर हैं, बडे धनुर्धारी हैं, भीम अर्जुन के समान युद्ध में लड़ने वाले हैं जैसे युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, महाबली काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, नरपुंगव शैब्य हैं।

लोगों को देखकर उसे ईर्ष्या होती है। छोटे तो छोटे हैं ही। प्रशंसा अपने से किसी भी बात में बड़े की की जाती है, किन्तु जैव धर्म है वह अपने को ही सब से श्रेष्ठ समझता है। प्रशंसा चार ही प्रकार से की जाती है। (१) यथार्थ प्रशंसा (२) अत्युक्ति *या मिथ्या प्रशंसा (३) व्याज स्तुति या व्यंगात्मक अथवा (४)* किसी को उभाड़ने को सहेतुक प्रशंसा।

सत्पुरुष किसी में सद्गुण देखकर उनकी यथार्थ प्रशंसा करते हैं। सत्पुरुषों की वह प्रशंसा बहुत ही मूल्यवान होती है, उसी से गुणियों की यथार्थ स्थिति समझी जाती है। दूसरों के गुणों की यथार्थ प्रशंसा करने वाले विरले ही सत्पुरुष होते हैं। दूसरे बहुत बढ़ा चढ़ाकर प्रशंसा करते हैं। उसे अत्युक्ति कहते हैं। बहुत से लोग स्वार्थ वश करते हैं। बहुत से कवि गण कविता में अत्युक्ति करते हैं। कविता को ललित बनाने को उत्तम से उत्तम उपमा देते हैं। तीसरे खल लोग व्यंग में भी प्रशंसा करते हैं। स्तुति के व्याज से वे निंदा ही करते हैं। चौथे वे स्वार्थी लोग हैं जो बलवान् को उभाड़ने के लिये अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये दूसरों की प्रशंसा करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य प्रशंसक की प्रशंसा करने में नहीं है, किन्तु समर्थ व्यक्ति को उत्तेजित करने में है। *"अजी तुम उनकी क्या प्रशंसा करते हो, मेरे सामने वे हैं क्या?* देख लेना आगे क्या होता है। दुर्योधन द्वारा पांडव पक्षीय वीरों की प्रशंसा द्रोणाचार्य के सम्मुख इसी उद्देश्य की गयी थी।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! दुर्योधन आचार्यद्रोण को उभारने के लिये पांडव पक्षीय सेना के मुख्य-मुख्य योद्धाओं का परिचय करा रहा है। उस सेना में तो बहुत से अतिरथी, महारथी, रथी और अर्धरथी योद्धा थे, किन्तु दुर्योधन जो अत्यंत ही शूरवीर धनुर्धारी नामी योद्धा भी हैं और पांडवों के सम्बन्धी भी हैं, जो ममता के साथ प्राणपण से युद्ध

ही मुख्य मुख्य वीरों का परिचय दे रहा है। उसने कहा—ये सब के सब महारथी और अतिरथी भी हैं। पांडव तो प्रसिद्ध ही हैं इसलिये उनका परिचय नहीं देता, फिर इन सबको युद्ध में पांडवों के समान न कहकर भीम और अर्जुन के समान बता रहा है। भीमार्जुन के समान कहने से भाव यह है, कि वैसे तो पांडव सभी शूरवीर और योद्धा हैं। सभी में प्राणों का पण लगा कर युद्ध करने का उत्साह है, किन्तु धर्मराज युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, उन्हें धर्म कार्य अधिक रुचिकर हैं। वे युद्ध करने के पक्ष में आरंभ से ही नहीं हैं। किसी प्रकार युद्ध रुक जाय वे बड़े होने पर भी दुर्योधन के अधीन रहने का भी उद्यत हो गये। केवल एक एक ग्राम पाकर भी संधि करने को तैयार हो गये। युद्ध को वे किसी भी मूल्य पर टालना चाहते हैं। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जब युद्ध नहीं रुका, उनके गले पड़ ही गया। तो वे विवश होकर लड़ेंगे युद्ध के प्रति उनका उत्साह नहीं। नकुल और सहदेव दोनों अत्यंत सुन्दर हैं। वैद्य तथा पंडित हैं कलाकार हैं, सुकुमार हैं। वैद्यों के पुत्र है। सुकुमार सुन्दर, कलाकार लोग लड़ाई झगड़ों से परे ही रहना चाहते हैं। क्षत्रिय पुत्र होने के नाते युद्ध से पराङ्मुख तो होंगे नहीं, लड़ेंगे तो अवश्य किन्तु लड़ने में उन्हें कोई बहुत उत्साह नहीं। हां भीम और अर्जुन पांडवों में ये दो ही शूर-वीर ऐसे हैं जिनके युद्ध के लिये हाथ खुजाते रहते हैं। इन दोनों में भीम तो भीम पराक्रम ही ठहरे। दुर्योधन भूला नहीं। इस भीमने ही हम सौ भाइयों को मारने की प्रतिज्ञा की है, इसी ने द्रौपदी के भरी सभा में बाल खींचने वाले मेरे भाई दुशासन के रक्त के पान की प्रतिज्ञा की है, इसी ने मेरी जंघा को तोड़ने की प्रतिज्ञा की है। यह बाल्यकाल से ही हम से प्रतिस्पर्धा रखता है, हमने भी इसे मारने के अनेक उपाय किये थे, लड्डुओं में विष खिला दिया, लाक्षागृह में जलाने का

प्रयत्न किया। राज्य भ्रष्ट कर दिया, द्रौपदी को अपमानित किया। यह उन बातों को भूला नहीं। युद्ध के लिये उधार खाये बैठा है, यह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से लड़ेगा, ऐसा ही अर्जुन है। युद्ध में विजयी होने की भावना से ही इसने आशुतोष भगवान् भूतनाथ को प्रसन्न किया है, उनसे पाशुपतास्त्र प्राप्त किया है। अग्नि देव से गांडीव धनुष और दिव्यरथ प्राप्त किया है, चारों लोकपालों को प्रसन्न करके उनसे भी इसने अस्त्र प्राप्त किये हैं। इसी शरीर से जीवित ही स्वर्ग गया है, इन्द्र से इसने अस्त्र विद्या सीखी है। इतनी भारी तैयारी इसने महाभारत युद्ध के ही लिये की है। अतः भीम और अर्जुन पांडव पक्षीय सेना के सर्व श्रेष्ठ वीर हैं, ये युद्ध में कुछ उठा न रखेंगे। अपनी शक्ति से भी अधिक तत्परता से ये लड़ेंगे। हमारी सेना के संहार के लिये सदा सर्वदा सन्नद्ध रहेंगे। इन्हीं के समान इनके और भी वीर हैं। वे धर्म समझकर लड़ने ही नहीं आये। सगे सम्बन्धी होने के नाते ये अपनी पूरी शक्ति के साथ लड़ेंगे।

पहिले युयुधान-सात्यकि को ही लीजिये। पुत्र में और शिष्य में कोई अन्तर नहीं होता। कहीं कहीं तो जो काम पुत्र नहीं कर सकता उसे शिष्य करता है। सात्यकि अर्जुन का अनुगत शिष्य है। युद्ध में न इसे कोई पराजित कर सकता है, न मार सकता है क्यों कि यह अमर है। इसी ने धर्मराज का दूत बनकर आते समय श्रीकृष्ण से कहा था - युद्ध अवश्य होना चाहिये मेरे क्रोध की शांति दुर्योधन को मारकर ही होगी।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! यह सात्यकि कौन था किस का पुत्र था?"

सूतजी ने कहा—महाराज! यह श्रीकृष्ण के वंश का ही यदुवंशी था। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेवजी उस समय के अद्वितीय धनुर्धर थे उनके समान यदुवंशियों में एक ही वीर था उसका

नाम था शिनि। कंस के चाचा देवक की पुत्री देवकी का स्वयंवर हुआ। शिनि और वसुदेव कुल गत भाई भाई थे, दोनों में बड़ी मित्रता थी। शिनि चाहते थे,देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हो। स्वयंवर में न जाने वह किस के कंठ में जयमाला डाल दे। इस लिये वह स्वयंवर से कन्या को बल पूर्वक उठा लाया और रथ पर बिठाकर चलने लगा। वह वसुदेवजी के साथ उसका विवाह करना चाहता था, स्वयंवर सभा में वीराभिमानी राजा सोमदत्त भी बैठा था उसे शिनि की यह अशिष्टता बहुत बुरी लगी। सोमदत्त ने राजा शिनि को मल्लयुद्ध के लिये ललकारा। शिनि कब पं छे हटने वाले थे। उन्होंने सोमदत्त की चिनौती को स्वीकार किया। दोनों में घनघोर युद्ध हुआ। यह युद्ध परम विस्मय कारी था। आधेदिन तक यह मल्लयुद्ध हुआ। अंत में शिनि ने सोमदत्त को ऊपर उठाकर भूमि मे दे मारा। उसकी चोटी पकड़ कर छाती में कसकर एक लात मारी। इससे सोमदत्त व्याकुल हो गया। शिनि ने खड्ग निकाल कर सोमदत्त का सिर काटना चाहा किन्तु उसे दया आगयी, उसने उसका सिर नहीं काटा और सोमदत्त से कहा—भागजा, फिर कभी किसी वीर के साथ ऐसा साहस न करना।"

शिनि द्वारा छाती में लात मारने पर सोमदत्त को बड़ी ग्लानि हुई। उसने घोर अरण्य में जाकर आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना की। उसकी घोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर औघड़दानी भगवान् शिव ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर उससे वर माँगने को कहा। सोमदत्त ने कहा—प्रभो! आप मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये जो युद्ध में शिनि के पुत्र को उठाकर पटक दे और उसकी छाती में लात मारे।" शिवजी ने तथास्तु कहा।

कालान्तर में इसी सोमदत्त के भूरिश्रवा नामका पुत्र हुआ। राजा शिनि के पुत्र सात्यकि हुए। यद्यपि सात्यकि अजेय परम

शूरवीर और दुर्धर्ष थे. तथापि महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ने वाले भूरिश्रवा ने शिवजी के वरदान के कारण सात्यकि को युद्ध में पटक दिया था और इनकी छाती में लात मारी थी। वैसे ये युद्ध में अपराजित थे। सम्पूर्ण महाभारत युद्ध में केवल पाँचों पांडव और ये महावीर युयुधान सात्यकि तथा श्रीकृष्ण ये सात ही बचे थे। कौरवों की ओर से कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ये तीन बचे थे। सात्यकि श्रीकृष्ण के ही समान शूर-वीर माने जाते थे। अर्जुन के ये परमप्रिय शिष्य थे। इन्होंने प्राणों का पण लगाकर युद्ध किया था और कौरवों की सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। कुन्ती माता के वंश में होने से और अर्जुन के शिष्य होने के नाते ये पांडवों के घनिष्ट सम्बन्धी थे, इसी लिये दुर्योधन ने सर्वप्रथम इनका नाम लिया।

दुर्योधन ने युयुधान के पश्चात् महाराज विराट का नाम लिया। विराट भी परम्रतपी शूरवीर महारथी और पांडवों के घनिष्ठ सम्बन्धी थे।

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! महाराज विराट का भी संक्षेप में परिचय करा दें।

सूतजी बोले—महाराज ! राजेन्द्र विराट तो परम प्रसिद्ध हैं। ये मत्स्यदेश (वर्तमान जयपुर राज्य) के राजा थे। बारह वर्ष वनवास के पश्चात् पांडवों ने इनके ही यहाँ एक वर्ष अज्ञात वास किया था। यहीं पर भीम ने कीचक को मारा, यहीं बृहन्नला बने अर्जुन ने कौरवों के समस्त वीरों को परास्त किया। राजा विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ किया था। अतः ये पांडवों के समधी थे। सम्बन्ध वश ही नहीं स्नेहवश भी ये पांडवों की ओर से लड़ने आये थे। अकारण कौरवों ने जो इनके राज्य पर चढ़ाई कर दी थी। इनकी गौओं

को हरकर ले गये थे, इस बात को महाराज विराट भूले नहीं हैं। वे उसकी अब सब कसर कोर इस युद्ध में निकालेंगे।

तीसरे वीराग्रगण्य महाराज द्रुपद हैं। ये भी पांडवों के घनिष्ठ सम्बन्धी हैं, सम्बन्धी क्या हैं महाभारत युद्ध के मूल कारण ही हैं। यदि ये न होते इनसे आप की अनबन न होती तो महाभारत युद्ध ही न होता।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! द्रुपद युद्ध के मूल कारण क्यों हैं ?

सूतजी बोले—महाराज! मैंने वैसे ही परम्परा सम्बन्ध से कह दिया। वास्तव में युद्ध के मूल कारण तो भगवान् वासुदेव ही हैं। वे न चाहते तो युद्ध न होता। उन्होंने चाहा तभी युद्ध हुआ। फिर भी यदि द्रोणाचार्य और द्रुपद में अनबन न होती, तो महाभारत युद्ध की नौबत न आती। द्रोणाचार्य के पिता महामुनि भरद्वाज के आश्रम में द्रुपद और द्रोण साथ पढ़ते थे। दोनों में अत्यन्त प्रेम था, द्रुपद के पिता महाराज वृषत् के परलोक प्रयाण करने पर प्रथमपुत्र द्रुपद पृथ्वीपाल बने। गौ माँगने द्रुपद उनके पास आये राजमद में भरकर द्रुपद ने उनका तिरष्कार किया। अपमान से क्षुभित होकर द्रोणाचार्य ने भीष्मपितामह की शरण ली। कौरव पांडवों के शिक्षक बने। गुरुदक्षिणा में द्रुपद को जीवित पकड़लाने का कुमारों को आदेश दिया। उन्हें अपमान का स्मरण दिलाया, आधा राज्य उनका ले लिया। ये भी अपमान से क्षुब्ध होकर द्रोणाचार्य को मारने के उपाय सोचने लगे। एक मारण अभिचार यज्ञ कराया। जिसमें से द्रोणाचार्य को मारने वाले धृष्टद्युम्न और महाभारत कराने वाली द्रौपदी उत्पन्न हुई। द्रोणाचार्य ने यह जानते हुए भी कि धृष्टद्युम्न मेरे मारने वाला है, उसे अस्त्र शस्त्र सिखाये। इसीलिए दुर्योधन महाराज द्रुपद के लिये विशेष रूप से महारथी बता रहा है कि महाराज, हत्या की

जड़ यह अति बलवान् द्रुपद ही है। यह शूरवीर रणधीर होने पर पांडवों का सगा श्वसुर है। इन्हीं के कारण पांडवों पर इतनी सेना हो गयी है। द्रुपद ने इस युद्ध में अपना सर्वस्व लगा दिया है। सपरिवार युद्ध करने को उद्यत खड़ा है।

चौथा राजा धृष्टकेतु है। यह श्रीकृष्ण की बूआ का नाती-शिशुपाल का पुत्र है। यद्यपि श्रीकृष्ण ने इसके पिता को राजसूय यज्ञ में मार डाला है फिर भी श्रीकृष्ण में प्रीति होने के कारण अपना सम्बन्ध निभाने यह आया है। यह भी पूरी शक्ति से लड़ेगा।

दुर्योधन उन्हीं लोगों को गिना रहा है जो पांडवों के अथवा श्रीकृष्ण के सगे सम्बन्धी हैं। पांचवें ये राजा चेकितान हैं। ये श्रीकृष्ण के अपने ही हैं, वृष्णिवंशीय यादव हैं। इन्हें अत्यन्त शूरवीर समझ कर ही तो इनको एक अक्षोहिणी सेना का सेनापति बनाया गया है।

छटे ये काशी के राजा हैं। पिता पुत्र दोनों ही लड़ने आये हैं। काशिराज की कन्याओं को भीष्मपितामह हमारे बाबा के लिये लाये थे। हमारी दादी इनकी पुत्री थी। यद्यपि इनके लिये हम और पांडव दोनों ही सगे हैं, फिर भी ये पांडवों की ओर लड़ने आये हैं।

सातवें आठवें ये महारानी कुन्ती के भाई पुरुजित और कुन्तीभोज हैं। पांडव इनके भानजे हैं, अपने बहिन के स्नेह से और भानजों पर कृपा वश ये दोनों भाई लड़ने आये हैं, ये युद्ध में कुछ उठा न रखेंगे और पूरी समार्थ्य के साथ लड़ेंगे।

नवें ये राजा शैव्य हैं जो धर्मराज युधिष्ठिर के सगे ससुर हैं। इनकी पुत्री देविका से धर्मराज ने विवाह किया है ये अपने दामाद को राज दिलाने के लिये पूरी शक्ति से लड़ेंगे ये सुप्रसिद्ध शूरवीर धनुर्धर और शत्रु संतापी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! इतने योद्धाओंका नाम दुर्योधनने द्रोणाचार्य से बताया। उसके कहने का अभिप्राय इतना ही प्रतीत होता है, कि ये वेतन भोगी केवल सैनिक ही नहीं। ये सब पांडवों के सगे सम्बन्धी मित्र और अत्यन्त स्नेही हैं। इसके आगे और भी पांडव पक्षीय महारथियों का नाम दुर्योधन ने गिनाया उन्हें मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

धृष्टकेतु शिशुपाल-तनय नृप चेदि नरेश्वर।
वृष्णि वंश के वीर धीर रन चेकितान वर॥
काशिराज सुरराज सरिस रनधीर वीर वर।
धरमराज के ससुर शैव्य नरपुंगव दुरधर॥
देवी कुन्ती के अनुज, कुन्ति भोज पुरुजित नृपति।
भगिनी सुतनि निमित्त ये, लड़िवे आये शूर अति॥

पाण्डवपक्षीय अन्य महारथी

[६]

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥*

(श्री भ० गी० अ० १ श्लो० ६-७)

छप्पय

युधामन्यु विक्रान्त उत्तमौजा अरिनासी ।
शूरवीर विख्यात देश पांचाल निवासी ॥
अरजुन—सुत विख्यात सुभद्रा-तनय वीरवर ।
भगिनीसुत-श्रीकृष्ण शूर अभिमन्यु धनुरधर ॥
द्रुपदसुता के तनय जो, प्रतिविन्ध्य सुत सोम वर ।
श्रुतकर्मा, श्रुतसेन अरु, शतानीक दुरधर समर ॥

यह जीव की स्वाभाविक प्रकृति है, कि वह अपने स्वार्थ

---

* दुर्योधन कह रहा है—और भी वीर हैं—जैसे परमपराक्रमी युधामन्यु हैं, महाबलवान् उत्तमौजा हैं, सुभद्रा के तनय अभिमन्यु हैं, द्रौपदी के पाँचों पुत्र हैं ये सबके सब महारथी हैं। अब हे द्विजोत्तम आचार्य अपनी ओर के जो श्रेष्ठ श्रेष्ठ सेना नायक हैं, उनको भी मैं बताता हूँ, केवल आपकी जानकारी के के लिये बता रहा हूँ उन सब को भी आप समझ लें।

को साधने के लिये, अपने पक्ष की सिद्धि के निमित्त भाँति भाँति की युक्तियों को प्रस्तुत करेगा। अपने पक्ष को प्रबल करने के निमित्त सत्य को झूठ सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा और झूठ को सच। जहाँ अपनी प्रशंसा से काम चलेगा, वहाँ अपनी प्रशंसा के पुल बाँध देगा, जहाँ दूसरों की प्रशंसा से कार्य सिद्धि होती दीखती हो, वहाँ अत्यन्त बढ़ चढ़कर दूसरों की प्रशंसा कर देगा। उसका उद्देश्य दूसरों की प्रशंसा अथवा निन्दा में नहीं है, उसका एक मात्र उद्देश्य अपने स्वार्थ की सिद्धि में है। जिस बात से अपने स्वार्थ की सिद्धि होती हो, उस काम के करने में वह तनिक भी हिचकिचाहट न करेगा।

सूतजी कह रहे हैं मुनियो! पांडव सेना के वीर महारथियों को गिनाते हुए दुर्योधन कह रहा है—आचार्यप्रवर! मैंने पांडव पक्षीय नौ वीरों के नाम गिनाये अब दशवें हैं युधामनु और ग्यारवें हैं उत्तमौजा। ये पांचाल देशीय राजकुमार हैं, अत्यन्त शूरवीर और बलवान हैं. ये दोनों भाई परम पराक्रमी हैं। हमने द्रौपदी का अपमान किया था, अतः ये हम पर परम कुपित हैं, इसी लिये ये अपना पूराबल पराक्रम दिखावेंगे। इन दोनों भाइयों को सम्मुख समर में कोई पराजित नहीं कर सकता।

बारहवाँ वीर है अभिमन्यु। यद्यपि इसकी अवस्था छोटी है, किन्तु है महान शूरवीर। यह श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का लड़का अर्जुन का औरस पुत्र है। पांडवों को इसके बल पराक्रम पर अत्यन्त ही भरोसा है. गर्भ में ही इसने चक्रव्यूह भेदन आदि युद्धोपयोगी अनेक विद्यायें सीख ली थीं। यह विशेषकर द्वारका ही रहा है, वहीं इसकी शिक्षा दीक्षा हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही इसे सब कुछ सिखाया है। यह अपने पिता ताऊ चाचाओं के ऊपर हमने जो अत्याचार किये हैं, इनसे अत्यन्त दुखित, है यह रण में सब कुछ करेगा, अपने प्राणों का भी

पण लगा देगा। यह अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण की भगिनी सुभद्रा में पैदा हुआ है। इसके अतिरिक्त पांचों पांडवों के द्रौपदी में उत्पन्न हुए पांच पुत्र और हैं। जैसे युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक और सहदेव से श्रुतसेन। ये पांचों ही बड़े शूरवीर महारथी और बलशाली हैं। जब युधिष्ठिर से द्रौपदी में प्रतिविन्ध्य उत्पन्न हुआ था, तब ब्राह्मणों ने धर्मराज से कहा था—महाराज यह बालक विन्ध्याचल पर्वत के समान शत्रुओं के संहारों को सहन करने में समर्थ होगा इसीलिये इसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा गया। जब भीम के पुत्र हुआ था तब पांडवगण एक सहस्र सोमयाग समाप्त कर चुके थे इसीलिये इसका नाम सुत सोम रखा गया। इसी प्रकार अर्जुन जब बड़े बड़े प्रसिद्ध कर्म कर चुका था, सम्पूर्ण दिशाओं को जीत कर दिग्विजयी बन चुका था, इसी लिये इसका नाम श्रुतकर्मा अर्थात् विश्रुत-प्रसिद्ध है कर्म जिसके ऐसे पार्थ का पुत्र। महर्षि शतानीक के नाम से नकुल ने अपने पुत्र का नाम उनके गौरव को बढ़ाने के निमित्त रखा था। सहदेव का पुत्र कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न हुआ था कृत्तिका नक्षत्र में होने से उन्हीं की संज्ञा होने के कारण इसका नाम श्रुत सेन रखा गया। यद्यपि ये बच्चे अभी बालक ही हैं, तथापि दश सहस्र योद्धाओं से अकेले ही युद्ध करने मे समर्थ हैं। ये सब अपने पिताओं के दुःखों को देखकर और हमारा उनके प्रति व्यवहार सुन सुनकर अत्यन्त कुपित हैं, अतः ये पूरी शक्ति से युद्ध करेंगे। किसी भी दशा मे पीछे पैर न हटावेंगे।

ये मैंने सत्रह मुख्य मुख्य वीरों के तो नाम गिना दिये इनके अतिरिक्त पांड्यराज परम प्रसिद्ध हैं। द्रौपदी के अतिरिक्त पाँचों भाइयों की और भी स्त्रियाँ हैं उनसे भी वीर पुत्र उत्पन्न हुए हैं उन सब के नाम कहाँ तक गिनाये जायँ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! द्रोणाचार्य अपने शिविर में बैठे थे। दुर्योधन को उनके यहाँ आया हुआ देखकर भीष्मपितामह कर्ण, कृपाचार्य तथा अन्यान्य मुख्य मुख्य व्यक्ति भी वहाँ आ गये। आचार्य द्रोण समझ न सके। आज यह पांडव पक्षीय सेना नायकों की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहा है। क्या यह पांडवों की इतनी सुसज्जित सुव्यवस्थित सेना को देखकर भयभीत तो नहीं हो गया, क्या यह इनकी इतनी प्रशंसा करके सन्धि का प्रस्ताव तो नहीं रखने वाला है। क्या यह युद्ध बन्द करने की भूमिका तो नहीं बाँध रहा है। भगवान् इसे सुबुद्धि दे। अच्छा है इन भाइयों में सन्धि हो जाय।

द्रोणाचार्य यही सोच रहे थे तभी तक दुर्योधन कहने लगा—"आचार्य प्रवर! ये तो मैंने पक्षीय वीरों पाण्डवों के मुख्य मुख्य नाम बताये अब हमारी अपनी जो सेना है, उसके मुख्य मुख्य वीरों का—सेना नायकों का—प्रधान प्रधान योद्धाओं का नाम बताता हूँ।

द्रोणाचार्य ने कहा—भाई, सब तो हमारे सामने ही हैं। उनका परिचय देने की आवश्यकता क्या है, आप अपना अभिप्राय बताओ।

दुर्योधन बोला—नहीं नहीं द्विजवर! मेरा कोई विशेष अभिप्राय नहीं। मैं केवल आपकी जानकारी के लिये बता रहा हूँ। आपके ध्यान में रहे, आप लोग दोनों ओर का बलाबल समझकर निर्णय कर लें कि किसको किस से लड़ना है।"

तब तो द्रोणाचार्य समझ गये सन्धि की कोई बात नहीं। यह केवल हम को उत्साहित करने के लिये दोनों दलों के वीरों की तुलना कर रहा है। देखें यह सबसे बलवान किसे बताता है। उस ओर तो इसने सत्रय नाम गिनाये अपनी ओर के नाम लेता है।

दुर्योधन ने कहा—मैं अपनी ओर के सब वीरों का नाम नहीं लूँगा, हमारी ओर अगणित महारथी हैं, जो पराक्रमी, शूरवीर, उत्साही यशस्वी, तेजस्वी, मनस्वी तथा साहसी हैं। मैं विशिष्ट विशिष्ट व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही कहूँगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! यहाँ तक तो उसने शिष्टाचार के सहित कथोपकथन किया। अब आगे हम लोगों की सेना नहीं कहता,अब अभिमान में भरकर मेरी सेना कहता है। मेरे सेना के जो नायक हैं, सेनापति हैं उन्हें में आपको बताता हूँ, आप समझ ले, सोचलें, विचार करलें और फिर मैं जो कहूँ, उसे ही करें। अब सुनिये मैं अपने सेनानायकों का नाम बताता हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कह कर दुर्योधन अपने सेनापतियों का नाम बताने लगा। उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

ये सब मैंने कहे शत्रु दल सेना नायक।
अब हमरे जो वीर सुनो सब शास्त्रनि गायक ॥
जो हैं प्रबल प्रधान जानिलें निज वीरनिकूँ।
फिरिकिनतैं को लड़ै लड़ावैं उनतैं तिनिकूँ ॥
मेरी सेना में बड़े, शूर वीर अति धनुरधर।
बुद्धिमान बलवान बहु, तिनिकूँ सुनिये विप्रवर ॥

कौरव पक्षीय शूरवीर।

[७]

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० ८, ९ श्लोक)

छप्पय

सर्व प्रथम तो आपु विप्रकुल कमल दिवाकर।
सबके हैं आचार्य धनुरधर सकल गुणाकर ॥
भीष्म पितामह पूज्य वृद्ध सेनापति अनुपम।
शत्रु सँहाती कग्न कौन अरिदल में तिनि सम ॥
कृपाचार्य संग्रामजित, अश्वत्थामा अतिरथी।
वीर विकर्ण सुवीर वर, भूरिश्रवा महारथी ॥

शास्त्र का वचन है, अपनी प्रशन्सा न करे और अपनों की उनके मुखपर प्रशंसा न करे। ऐसा करने से उनकी आयु क्षीण होती है, किन्तु विवशता ही हो, करनी ही हो, तो संकोच के

---

*दुर्योधन कह रहा है—आचार्यवर! अब आप मेरी सेना के सेनापतियों के भी नाम सुनें—आप हैं, भीष्मपितामह हैं, कर्ण हैं, संग्राम में सदा विजयी होने वाले हमारे आचार्य कृप हैं, अश्वत्थामा हैं, विकर्ण हैं और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं।

साथ करे। बड़ों की स्तुति प्रशंसा तो उनके मुख पर या परोक्ष में भी करनी ही चाहिये। किन्तु अपने से छोटों की तो जहाँ तक हो उनके मुख पर प्रशंसा न करे।

अपनों की प्रशंसा उनसे कोई काम कराने के लिये की जाती है। जैसे बच्चे हैं, उनसे कोई काम कराना हो, तो उन्हें उत्साहित करने को कहते हैं—"तुम बड़े राजा हो, मेरा बच्चा तो बड़ा योद्धा है। देखो, बेटा यह काम कर दोगे तो तुम बहुत शूर वीर समझे जाओगे। बड़ों से कोई काम करना हो तो उनसे कहे—अब आप के सामने हम क्या कहें, हमें तो कहने में लज्जा लगती है, नहीं तो आपके समान दूसरा है ही कौन? आपको छोड़कर अब हम दूसरे किसकी शरण में जायें। हमारा तो उद्धार आप ही कर सकते हैं। आप हृदय से अपनी पूरी शक्ति से हमारी सहायता करें तो कोई हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता है। संसार में ऐसा कौन मानव होगा जिसे अपनी प्रशंसा प्यारी नहीं लगती हो, स्तुति प्रशंसा से तो परमात्मा भी प्रसन्न हो जाते हैं। अतः कार्य सिद्ध कराने की इच्छा रखने वालों को बड़ों की प्रशंसा अवश्य ही करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पर पक्ष के वीरों का वर्णन दुर्योधन आचार्य द्रोण के समीप करके अपने पक्षके सुप्रसिद्ध वीरों का वर्णन करने लगा।

उसने कहा—मेरी सेना में सर्व प्रथम तो आप हैं, आपसे बढ़कर श्रेष्ठ शूरवीर कोई नहीं है। आपके पश्चात् पितामह भीष्म हैं, तदनन्तर तीसरे कर्ण हैं, चौथे शत्रुओं को संताप देने वाले कृपाचार्य हैं। पांचवें अश्वत्थामा हैं, छटे विकर्ण हैं, सातवें सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत से शूर-वीर हैं, जो मेरे निमित्त जीवन की आशा त्यागकर प्राणों

पण लगाकर युद्ध करेंगे। वे नाना अस्त्र शस्त्रों से सदा सर्वदा सुसज्जित रहते हैं और सभी युद्ध विशारद तथा चतुर हैं।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! सर्वश्रेष्ठ बली, सबसे वयोवृद्ध, सबके सेनापति तो पितामहभीष्म थे, उनका सर्व प्रथम नाम न लेकर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य का नाम पहिले क्यों लिया?

सूतजी बोले—महाराज! यथार्थ कारण तो भगवान ही जानते हैं या व्यासजी जानते होंगे। मेरी बुद्धि में तो यही आता है, ये सब बातें दुर्योधन सबके गुरु आचार्य द्रोण को उत्तेजित करने के लिये कर रहे हैं। पांडव पक्ष के उसने १७ योद्धाओं के तो स्पष्ट नाम ही गिनाये हैं। भीम और अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ बताकर उनके समान ही इन सबहीं को बताया अर्थात् १९ नाम तो उसने स्पष्ट ही लिये। उसका लक्ष्य केवल भीम और अर्जुन को परास्त करने में है। यदि किसी तरह यह दोनों युद्ध में मारे जायँ, तो मेरी विजय निश्चित है। भीष्म पितामह ने सेनापतियों की गणना करते समय स्पष्ट कह दिया था, यद्यपि द्रोणाचार्य सर्वविद्या विशारद हैं। ये चाहें तो सबका संहार कर सकते हैं, किन्तु इनमें एक ही दोष है, ये अर्जुन को अपने पुत्र अश्वत्थामा से भी अधिक चाहते हैं ये युद्ध में अर्जुन को किसी प्रकार भी नहीं मारेंगे। उसने सोचा—ठीक है, अर्जुन को न मारें न सही यदि ये भीमसेन को मार दें, तो अर्जुन को मारने का बीड़ा तो कर्ण ने उठा ही लिया है। कृष्ण की जड़ यह भीम ही है। इसी ने हम सब भाइयों को मारने की, मेरी जंघा तोड़ने की तथा दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा की है। किसी प्रकार उत्तेजित होकर द्रोणाचार्य इसे मार दें तो मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो जायँ। भीष्म पितामह ने तो स्पष्ट ही कह दिया है मैं पाँचों पांडवों को नहीं मारूँगा। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव को तो मैं क्या कोई भी साधारण महारथी मार देगा। ये न भी मरें तो भीम अर्जुन के

मारे जाने पर ये मृत तुल्य हो ही जायँगे। अतः किसी प्रकार द्रोणाचार्यजी को उत्तेजित करना चाहिये। इसीलिये पाँडवों की सेना के तो १७ वीरों का नाम लिया अपनी सेना के कुल सात ही वीरों का नाम गिनाया। पाँडवों की सेना के जो सत्रह वीर हैं, वे सबके सब क्षत्रिय हैं, विशुद्ध वंश के राजा हैं, सभी मातृ-वंश पितृवंश अथवा पत्नी वंश से पाँडवों के सगे सम्बन्धी हैं। उनमें अनुराग रखते हैं। एक तो वे क्षत्रिय होने के नाते वैसे ही युद्ध को अपना पैतृक धर्म समझ कर लड़ेंगे। क्योंकि धर्म युद्ध से बढ़कर क्षत्रियों के लिये कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं। क्षत्रिय होने के नाते ये सब प्राणपण से लड़ेंगे। दूसरे ये सबके सब पाँडवों के सम्बन्धी हैं। कोई मामा के लड़के हैं, कोई श्वसुर हैं कोई मामा हैं इस प्रकार सम्बन्ध के कारण भी मन लगाकर लड़ेंगे। तीसरे ये सब पाँडवों से स्नेह करते हैं, इनकी विजय चाहते हैं। अतः ये अपनी ओर से लड़ने में कुछ भी कोर कसर न छोड़ेंगे। अब कौरवों की ओर से जो दुर्योधन ने सात गिनाये हैं। उनमें तीन तो ब्राह्मण ही हैं, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा। युद्ध करना ब्राह्मण का धर्म नहीं है। ब्राह्मण का धर्म तो वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना है। आजीविका के लिये वे अध्यापन, यज्ञ कराना और दान ग्रहण इन कार्यों को कर सकते हैं। जब आपत्ति हो, तब विवश होकर वे आपत्ति के समय क्षत्रिय के धर्म-युद्ध-को अंगीकार कर सकते हैं। इन पर कोई आपत्ति तो है नहीं फिर भी ये तीनों लड़ने को तत्पर हैं तो आरूढ़ पतित हैं। अर्थात् ऊँची वृत्ति को छोड़कर आपत् धर्म की नीची वृत्ति को ग्रहण किये हुए हैं। ये लोभवश युद्धकर रहे हैं, क्योंकि पुरुष अर्थ का दास होता है। अर्थ किसी का दास नहीं होता यह बात भीष्म और द्रोण दोनों ही स्वीकार कर चुके हैं इसलिये इन तीनों का युद्ध करना पैतृक धर्म तो है नहीं। ये लोग लोभवश

अर्थ दृष्टि से लड़ेंगे। रही सम्बन्ध की बात सो जब य उच्चवर्ण के हैं तो इनसे हम क्षत्रियों का यौन सम्बन्ध भी नहीं है। तीसरे आदमी स्नेह वश मैत्री भाव से भी लड़ सकता है। मैत्री हृदय से होती है। हृदय इनका पांडवों की ओर है, विशेषकर अपने परमप्रिय शिष्य अर्जुन की ओर अब एक ही उपाय है, बड़े लोगों को सेवा तथा स्तुति के द्वारा प्रसन्न करले, तो वे आवेश में आकर न देने योग्य वर को दे सकते हैं, न करने योग्य कार्य को कर सकते हैं। शिवजी से असुरगण स्तुति सेवा द्वारा ही असंभव वरों को प्राप्त कर लेते हैं। मैंने ही सेवा स्तुति द्वारा महाराज शल्य को अपने वश में कर लिया। वे यद्यपि पांडवों की ओर लड़ने आ रहे थे, किन्तु मेरी सेवा तथा स्तुति प्रार्थना से प्रसन्न होकर वे मेरी ओर हो गये। इस श्रीकृष्ण के सम्मुख मेरी चाल नहीं चली। मैंने सेवा स्तुति द्वारा इन्हें अपनी ओर लाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इनका पांडवों के प्रति सहज स्नेह है। वैसे साधारणतया बड़े लोग प्रशंसा से स्तुति से शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। यही सब सोचकर उसने अपनी सेना में सर्वप्रथम सर्व-श्रेष्ठ योद्धाओं में द्रोणाचार्य को गिनाया।

सत्य बात तो यह है, कि दुर्योधन ने यह महाभारत युद्ध न तो द्रोणाचार्य के बलभरोसे पर ठाना और न भीष्म पितामह के बल पर, उसे तो एक मात्र अपने मित्र परम योद्धा कर्ण का ही सहारा था। कर्ण के ही बल भरोसे पर वह महाभारत को जीतना चाहता था। किन्तु कर्ण विशुद्ध क्षत्रिय नहीं था। वह सूत पुत्र के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध था। सूत जाति का कार्य युद्ध करना तो है नहीं। वह तो सभा में खड़े होकर राजाओं की या तो स्तुति करते हैं या रथ हाँकते हैं। उनका कार्य क्षत्रिय वीरों की सेवा सुश्रूषा करना है। सूतवंश में कर्ण अपवाद हैं, वह अपनी विद्या तथा बल पौरुष से समस्त वीराभिमानी क्षत्रियों को परास्त करने

में समर्थ है, उसने अकेले ही दिग्विजय करके सब क्षत्रियों को वश में कर लिया है। पांडव भी उसकी वीरता का लोहा मानते हैं, किन्तु हमारे बीच में ये वृद्ध भीष्म पितामह ही रोड़ा हैं। इन्हें न छोड़ सकते हैं न इन पर पूर्ण विश्वास ही कर सकते हैं। ये बूढ़े आदमी कभी कभी बहुत संकट पैदा करते हैं। ये अपनी पद प्रतिष्ठा को छोड़ना भी नहीं चाहते और यमराज भी इनको अपने पास बुलाने में डरते हैं। इससे इनकी प्रतिष्ठा करो तो भी आफत, न करो तो भी आफत।

ये भीष्मपितामह मेरे मित्र कर्ण से द्वेष रखते हैं, बात बात पर उसका अपमान करते हैं, छूटते ही उसे गाली देते हैं, युद्ध तक के लिये ललकारने लगते हैं। कर्ण मेरे कारण इनका शील संकोच करता है, किन्तु शील संकोच की भी कोई सीमा होती है, अब उसी दिन वे मुझे अपनी सेना के अतिरथी महारथी, रथी और अर्धरथियों का गिनाने लगे। सबकी खूब प्रशंसा की, यथार्थ परिचय दिया। कर्ण के पुत्र वृषसेन को भी महारथी बताया, किन्तु जहाँ कर्ण का प्रसंग आया, वहीं उनकी त्योरियाँ बदल गयीं। कहने लगे—यह नीच कर्ण अपने को बहुत बड़ा योद्धा समझता है। परन्तु मैं इस सूत के छोकड़े को न अतिरथी मानता हूँ, न महारथी न रथी ही, यह अर्धरथी की श्रेणी में आ सकता है। यह उस विश्वविजयी वीर का कितना भारी अपमान था, वह तो मेरे शील संकोच से चुप हो गया, नहीं तो उसी दिन घर में ही महाभारत हो जाता।

ये बूढ़े लोग अपने समान किसी को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें अपने अनुभवों का अपनी अवस्था का आवश्यकता से अधिक अभिमान होता है। अब इन बूढ़े बाबा को सर्वोच्च सेनापति न बनावें तो ये क्रुद्ध होंगे, पाँडवों की भी ओर जा सकते हैं। इसलिये सेना में सबसे उच्चपद तो इन्हें देना ही है।

सभी योद्धाओं का मूर्धन्य तो इन्हें बनाना ही है और जो परशु-रामजी तक को युद्ध में संतुष्ट कर सकता है, इक्कीसबार समस्त विश्वके क्षत्रियों को जीतने वाले से भी जो डटकर लोहा ले सकता है, जो सबसे वृद्ध है उसे छोड़कर दूसरे को सेनापति बनाया भी नहीं जा सकता। अब इनके सम्मुख सर्वप्रथम कर्ण को गिनावें तो वे मारे क्रोध से लाल हो जायँगे। इसमें अपना घोर अपमान समझेंगे। इसलिये सेनापति के नाते सर्वप्रथम वीर तो ये हैं ही, किन्तु द्रोणाचार्य के सम्मुख इन्हें सर्व प्रथम गिनावें, तो वे ऊपर से तो कुछ कहेंगे नहीं, क्योंकि भीष्मपितामह ने ही इन्हें आश्रय दिया है, फिर भी मन में बुरा तो मानेंगे ही कि मैं एक तो ब्राह्मण हूँ, सबका आचार्य हूँ, धनुर्वेद्या में विश्वविख्यात हूँ। अस्त्रशस्त्रों की विद्यामें विशारद हूँ, मुझे सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा।

भीष्मपितामह यह साधु ब्राह्मणों का अत्यधिक सम्मान करते हैं। उनके सम्मुख द्रोणाचार्य को मैं सर्वश्रेष्ठ शूर कहूँगा, तो वे बुरा न मानेंगे सोचेंगे—ब्राह्मण होने के नाते वे तो सभी के पूज्य हैं। ये ही सब बातें सोचकर उसने द्रोणाचार्य को सर्व प्रथम गिनाया। जिससे कि वे प्रसन्न होकर मुझे दुर्लभवर दे दें और हृदय से प्राणों का पण लगाकर युद्ध करें। द्रोणाचार्य को प्रसन्न करना ही उसे अभीष्ट था।

दूसरा नाम उसे भीष्म पितामह का लेना ही था, वे वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और ग्यारह अक्षोहिणी सेना के सेनापति ही थे। युद्ध में सेनापति का पद राजा से भी बढ़कर होता है। राजा को भी सेनापति के ही अधीन रहना पड़ता है। इन दो बूढ़ों को सन्तुष्ट करके इनका नाम गिनाकर अब उसने तीसरा नाम कर्ण का लिया वैसे मर्यादा की दृष्टि से तो उसे दूसरा नहीं तो तीसरा नाम कृपा-चार्य का लेना था। क्योंकि वे कुरुकुल के पुरोहित थे। सब के पूज्य थे। उन्हीं के कारण द्रोणाचार्य को आश्रय मिला। द्रोणा-

चार्य के पश्चात् ही कृपाचार्य की गणना होनी चाहिये थी। किन्तु भीष्म पितामह को सर्वोच्च सेनापति की दृष्टि से दूसरा पद दे दिया गया तो तीसरा नाम तो उनका होना ही चाहिये, किन्तु दुर्योधन ने उनकी परवाह नहीं की। पुरोहित होने के कारण उन्हें तो हमारे साथ रहना ही होगा। वे हमें छोड़कर कहाँ जा सकते हैं। उन्हे चौथे में रख लो, पांचवें में गिनालो, वे तो अपने हैं ही। मानलो वे क्रुद्ध भी हो जायें तो उनके बिना कुछ बनता बिगड़ता भी नहीं। किन्तु अब भीष्मपितामह के पश्चात् भी कर्ण को न गिनावेगे तो वह इसमें अपना घोर अपमान समझेगा। अतः द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह के पश्चात् ही उसने कर्ण का नाम ले दिया। बस, इन तीनों को ही वह सर्वोच्च वीर समझता था। तीनों में भी केवल कर्ण को। भीष्म पितामह को तो उसे विवश होकर सेनापति बनाना पड़ा। कर्ण यद्यपि उसकी दृष्टि में सर्व श्रेष्ठ वीर है, किन्तु कर्ण भीष्म पितामह के कार्यों में कुछ कह नहीं सकता, उन्हे सम्मति मंत्रणा दे नहीं सकता, क्योंकि भीष्म पितामह उससे जलते हैं। छूटते ही वे कहेंगे—तू कलका छोकड़ा, सूत का पुत्र तू युद्ध की बातें क्या जानता है। इस बूढ़े सिंह को कुछ सम्मति दे सकते हैं, तो ब्राह्मण होने के नाते द्रोणाचार्य ही दे सकते हैं। इनकी बात वे मानते हैं इनका आदर सम्मान करते हैं अतः भीष्म इधर उधर भटकने न पावें अपने पद का ठीक ठीक उपयोग करें, इसके लिये द्रोणाचार्य को वश में करना परमावश्यक है। अतः प्रथम द्रोण, दूसरे भीष्म और तीसरा नाम उसने कर्ण का लिया। उसकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ योद्धा समाप्त हो गये अब चार नाम तो उसने उपचार की दृष्टि से ले दिये। चौथा नाम कृपाचार्य का इसलिये ले दिया कि ये हमारे पुरोहित हैं, ब्राह्मण हैं, इनका भी सम्मान करना चाहिये और सबसे बढ़कर यह बात है कि ये द्रोणाचार्य के साले हैं। साले

से बड़ा स्नेह होता है, विशेष कर कलिकाल में महाभारत के समय कलियुग आ तो गया था, किन्तु श्रीकृष्ण के रहने के कारण उसने हाथ पैर नहीं फैलाये थे। कृपाचार्य का नाम लिया तो द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का भी नाम लेना चाहिये। पुत्र का नाम सुनकर वे प्रसन्न होंगे अतः पांचवा नाम द्रोणाचार्य की प्रसन्नता के निमित्त ले दिया।

छठा नाम उसने अपने भाई विकर्ण का लिया। उसके तो सौ भाई थे। विकर्ण का ही नाम लेने का क्या कारण। विकर्ण से तो दुःशासन बली शूरवीर और प्रसिद्ध था। प्रतीत होता है, विकर्ण की प्रकृति इन सब भाइयों से भिन्न थी। वह धर्मात्मा था और पांडवों का पक्ष लिया करता था। द्रौपदी का जब भरी सभा में दुःशासन ने चीर हरण करना चाहा तब द्रोपदी ने सबसे धर्म का एक प्रश्न पूछा कि न्यायतः मैं जीती गयी या नहीं। इस पर भीष्म पितामह धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य तथा अन्यान्य सभी सभासद् चुप हो गये। एक वीर धर्मात्मा विकर्ण ही ऐसा था। जिसने निर्भीक होकर उत्तर दिया और पांडवों के पक्ष का प्रबल समर्थन किया। इस पर कर्ण ने उसे बहुत डाँटा फटकारा, उसके वचनों को लड़कपन की सम्मति बताया। किन्तु उसने इतनी सच्ची बात कही कि कोई भी उतनी सच्ची शास्त्र सम्मत बात न कह सका। इसीलिए दुर्योधन ने उसकी प्रशंसा कर दी कि यह प्रसन्न होकर हमारी ही ओर रहे। कहीं धर्म पक्ष समझकर पांडवों की ओर न चला जाय।

सतवाँ नाम उसने अपने कुल के भूरिश्रवा का ले दिया। वह इसलिये अपने कुल के एक श्रेष्ठ पुरुष का भी नामलेना चाहिये। इसमे भीष्म पितामह प्रसन्न हो जायँगे। ये भूरिश्रवा शास्त्र के नाते कुरुकुल में सर्वश्रेष्ठ थे। भीष्म पितामह के पिता शान्तनु थे, उनके बड़े भाई वाल्हीक थे। वाल्हीक के पुत्र सोमदत्त थे जो

भीष्म पितामह के ताऊ के लड़के के भाई थे। उनके ये पुत्र थे भूरिश्रवा। भीष्म पितामह के भतीजे और कौरव पांडवों के चाचा थे। धृतराष्ट्र तो अंधे थे, पांडु स्वर्ग वासी हो चुके थे। भीष्म पितामह ने विवाह ही नहीं किया अतः ये भूरिश्रवा ही कुल में सर्व श्रेष्ठ थे। अतः भीष्मपितामह बुरा न मानेइसलिये अन्त में उनका भी नाम ले दिया।

सूतजी कहते हैं मुनियों! सात महारथियों का नाम सोचकर दुर्योधन चुप हो गया। पांडव सेना के तो सत्रह नाम गिनाये और अपने सात ही नाम गिना कर उसने यह कह कर बात समाप्त कर दी कि और भी बहुत से से शूरवीर हैं जो प्राणों का पण लगा कर मेरी ओर से लड़ने आये हैं। यह सभी युद्ध विद्या विशारद हैं, धनुर्धर हैं और सभी मेरे स्नेही हैं। अपनी ओर के सात का ही नाम किस हेतु से गिनाया, इस विषय को मैं आगे सुनाऊँगा आप सब दत्तचित्त होकर सुनें।

छप्पय

और बहुत से शूर वीर क्षत्रिय कुल भूपन।
जो रनतजि नहिँ भगे नहीं जिनमें कछु दूपन॥
जीवन आशा त्यागी प्रान पन जिननि लगाये।
शोक मोह भय त्यागि शत्रु दल जिननि भगाये॥
अस्त्र शस्त्र सज्जित सकल, सबई युद्ध प्रवीन हैं।
ममहित सब सुख त्यागिकैं, आये वृद्ध नवीन हैं॥

———

सेनानायक की रक्षा ही धर्म है

(८)

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥*
(श्रीभ० गी० १ अ० १०, ११ श्लो०)

छप्पय

मेरी सेना जदपि अधिक संख्या में भारी ।
बड़े-बड़े वर वीर वेद विद् बहुबल धारी ॥
तोऊ नहिं परियाप्त भीष्म जाके रक्षक हैं ।
समदरसी कुल श्रेष्ठ सकल सेना अधिपति हैं ॥
शत्रु पक्ष की सेन यह, है परियाप्त ससीम है ।
सब सेना साधन सहित, रक्षक जाको भीम है ॥

उपनिषद् में कहा है—पृथिवी भर का अन्न, सोना चाँदी, समस्त काम काज के पशु तथा समस्त कामिनियाँ एक ही व्यक्ति

---

*दुर्योधन कह रहा है—इतना होने पर भी हमारी सेना अपर्याप्त है, क्योंकि यह वृद्ध भीष्म पितामह के द्वारा रक्षित है। और इनकी सेना पर्याप्त है, जो भीम द्वारा रक्षित है इसलिए आप सब लोग सब ओर से यथा स्थान रह कर बिना ननु नच के भीष्म पितामह की ही रक्षा कीजियेगा।

को दे दी जायँ, तो भी उसकी सन्तुष्टि के लिये ये सब अपर्याप्त हैं। अर्थात् कितनी भी भोग सामग्री क्यों न हो, असन्तोषी पुरुष यह नहीं कह सकता कि बस, मेरे लिये पर्याप्त है। कितना भी धन हो जाय, जब तक हृदय में संतोष नहीं, तब तक व्यक्ति यह नहीं कह सकता मेरे लिये यथष्ट हैं, अब नहीं चाहिये। असन्तोषी को कितना भी दे दो उसकी तृप्ति नहीं। तृप्ति या सन्तुष्टि वस्तुओं में नहीं वह तो मन मे है। मन मे सन्तोष आजाय तो गोधन, गजधन, अश्वधन तथा रत्नधन ये सभी धूरि के समान हैं। अतः सन्तोष का कारण विपुल मात्रा में वस्तुओं का संग्रह न होकर मनस्तोष ही है।

सूतजी कहते हैं—मुनियों! दुर्योधन ने दोनों ही सेना से बड़े बड़े मुख्य मुख्य वीरों का परिचय द्रोणाचार्य को करा दिया। उस ओर के उसने भीम और अर्जुन को तो सर्व श्रेष्ट वीर बताकर उपमा में रखा और युयुधान आदि १७ को उपमेय बनाकर उनकी सेना का एक सुन्दर आकर्षक रूप खड़ा कर दिया। अपनी ओर के उसने कुल सात का ही नाम गिनाया। वे सात भी ऐसे कि यदि वे प्रेम पूर्वक लड़ें तब मेरी विजय संभव हैं, अन्यथा हम पांडवों की बराबरी नहीं कर सकते। सर्व प्रथम द्रोणाचार्य को ही लो। ये जन्मना ब्राह्मण हैं, स्वभावतः क्षत्रिय की भाँति कठोर नहीं बन सकते, हम सब ही समान रूप से इनके शिष्य हैं, अतः पांडवों के प्रति इनकी स्वाभाविक शत्रुता भी नहीं, तीसरे ये अर्जुन को अपने पुत्र से भी बढ़कर मानते है, उधर अर्जुन और भीम ही दो प्रधान बली हैं। अर्जुन से तो ये भिड़ेंगे नहीं। भीम को भी मारेंगे इसमें संदेह है। दूसरे हैं भीष्म पितामह, उनके लिये हम दोनों ही समान है, हम दोनों के ही वे पितामह हैं,। अब तक वे सर्वत्र पांडवों का ही पक्ष लेते आये हैं। श्रीकृष्ण को देखते ही ये घुटने टेक देते हैं, उनकी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, उधर श्रीकृष्ण ही

सर्वस्व हैं, पांडव उनकी सम्मति के बिना एक पग भी नहीं रखते। दूसरे भीष्मपितामह वृद्ध भी हैं, तीसरे वे मेरे विजय के एक मात्र आधार कर्ण से मन ही मन जलते हैं,हम सब भाइयों को पापमति अधर्मी बताते हैं।

तीसरा कर्ण है, वह हृदय से मेरे साथ है, फिर भी वह अर्जुन को छोड़कर और किसी पांडव को मारेगा नहीं। कैसा भी सही वह जाति का सूत है, उसे सेनापति न बनाऊँ तो वह मन ही मन बुरा मानेगा, उसे यदि सेनापति बनाता हूँ तो वीराभिमानी क्षत्रिय इसमें अपना अपमान समझेंगे, वे सूत के अधीन रहकर युद्ध करेंगे तो सही, किन्तु मन लगाकर हृदय से नहीं करेंगे।

अब चौथे रहे कृपाचार्य, सो वे तो ब्राह्मण ही ठहरे। उनकी दृष्टि में हम और पांडव बराबर हैं। वे हमारे कुल भर के पुरोहित हैं, उन्हें, जितना प्रेम दक्षिणा से है उतना युद्ध से नहीं। यद्यपि वे समरविजयी हैं, किन्तु शस्त्र समर की अपेक्षा उन्हें शास्त्र समर अधिक प्रिय है, वे विद्याव्यासंगी हैं, अतः धर्म समझ कर प्राण से युद्ध करेंगे यह आशा उनसे नहीं।

पाँचवा अश्वत्थामा है, यद्यपि वह शूरवीर और अस्त्र शस्त्रों का ज्ञाता है, किन्तु है तो ब्राह्मण ही। इसे पांडवों से कोई शत्रुता भी नहीं। मुझे भीष्म पितामह ने पहिले ही बता दिया है, कि यह बली तो बहुत है, किन्तु इसे अपने प्राणों का मोह अत्यधिक है। जिसे प्राणों का मोह है, वह पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कैसे कर सकता है। युद्ध में तो प्राणों का पण लगाना पड़ता है, अतः इससे भी बहुत अधिक आशा नहीं है।

अब छटा रहा, मेरा भाई विकर्ण सो मेरे सौ भाइयों में से यही मेरे विरुद्ध बोला था। भरी सभा में इसी ने पांडवों का पक्ष लिया था। जिस बात को भीष्म, द्रोण और मेरे पिता नहीं कह सके उसे इसने कहा था। कर्तव्य समझकर यह हमारी ओर से

लड़ेगा, वैसे मन इसका पांडवों की ही ओर है। हृदय से अनुभव करता है, कि पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष है।

सातवें हैं भूरिश्रवा। ये सोमदत्त के पुत्र हैं, सोमदत्त हमारे प्रपितामह शान्तनु के बड़े भाई हैं। इनकी रुचि यज्ञ याग आदि धर्म कार्यों में अधिक है। ये हममें और पांडवों में कोई भेद नहीं मानते।

इन सभी कारणों से संख्या में अधिक होने पर भी मेरी सेना पर्याप्त नहीं अपर्याप्त ही है। दूसरे हमारे सेनापति भीष्मपितामह हैं। यद्यपि इन्होंने बड़े बड़े धीराभिमानी राजाओं को युद्ध में परास्त किया है। इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश करने वाले परशुराम से टक्कर ली है, उन्हें युद्ध में संतुष्ट किया है, यह सब कुछ होने पर भी हैं तो वृद्ध ही। वृद्धावस्था का प्रभाव सभी प्राणधारियों पर पड़ता है। आदमी प्रतिहिंसा के कारण द्वेषवश आवेश में आकर अपनी शक्ति के बाहर भी काम कर डालता है। इनके हृदय में पांडवों के प्रति कोई द्वेष नहीं प्रतिहिंसा नहीं। पांडवों को न मारने की बात इन्होंने स्पष्ट पहिले ही बता दी है, यही नहीं ये पांडवों को युद्धोपयोगी सम्मति भी देते रहते हैं। ऐसे घर के भेदिया हमारे सेनापति हैं। उधर यद्यपि भीम सेनापति तो नहीं हैं। नाममात्र को उन्होंने—द्रुपद को प्रसन्न करने के निमित्त—धृष्टद्युम्न को सेनापति बना दिया है, किन्तु कर्ता धर्ता सब भीमसेन ही हैं। हमने इसका बहुत अपमान किया है, कई बार इसे मार डालने का असफल प्रयत्न भी किया है। द्रौपदी के अपमान से यह अत्यन्त क्रुद्ध है। आठों पहर इसके हृदय में प्रतिहिंसा अग्नि दहकती रहती है। यह अन्तःकरण से हम लोगों से द्वेष रखता है। यह युद्ध में अपनी शक्ति भर कुछ उठा न रखेगा। जिस सेना का सेनापति मन से लड़ता है, तो उसकी

सेना भी प्राणों का पण लगा देती है। जिस सेना का सेनापति भाग खड़ा होता है, वह सेना चाहे जीत ही रही हो, सेनापते के भागते ही वह भी भागने लगती है। अतः भीमसेन के नेतृत्व में लड़ने वाली सेना दूनी शक्ति से लड़ेगी। अतः इनकी सेना इसका बल पौरुष पर्याप्त है—यथेष्ट है।

दुर्योधन ने यह शब्द द्वयर्थक कहा। वहाँ भीष्म पितामह आदि भी बैठे थे और द्रोणाचार्य कृपाचार्य अश्वत्थामा आदि वीर भी थे। उसका भाव तो यही था, कि अपनी सेना की अव्यवस्था और उत्साह की न्यूनता बताकर तथा पांडवों का वैभव युद्ध कौशल जता कर द्रोणाचार्य को युद्ध के लिये उभाड़ना उन्हें उत्साहित करना, जिससे वे पूरी शक्ति से युद्ध करें। किन्तु साथ ही भीष्म पितामह के सम्मुख अपनी निबलता भी सिद्ध न हो, उनकी प्रशंसा भी यथेष्ट हो जाय, अतः उन्हें समझाने को पर्याप्त अपर्याप्त का अर्थ यह भी हो सकता है, कि आप सबके सब विश्वविजयी महारथी हैं, आपके सम्मुख पांडवों की सेना तृण के समान भी नहीं है, आप चाहे तो क्षण भर में पांडवों सहित उनकी समस्त सेना का संहार करने में समर्थ हैं। फिर हमारी सेना के सेनापति बुद्धिमान, सभी गुणों के सागर, रणनिपुण विश्वविजयी वयोवृद्ध, परम अनुभवी तथा शत्रु संहर्ता भीष्म-पितामह हैं, उधर एक बहुत खाने वाला पेटू गुणहीन भीमसेन ही है। वह भीष्म पितामह के सम्मुख क्या लड़ेगा। अतः हमारी सेना सभी प्रकार से अजेय है, इसे शत्रु पक्ष का कोई भी वीर जीत नहीं सकता। पांडवों की सेना सुगमता से जीती जा सकती है।

द्रोणाचार्य ने तो यही समझा कि दुर्योधन उनका महत्व बता कर उनकी सेना की व्यूह रचना सुव्यवस्था जताकर, मुझसे भी ऐसी ही व्यूह रचना तथा व्यवस्था करने के लिये कह रहा है

और भीष्मपितामह ने यही समझा कि उनकी सेना को हेय बता कर मेरे सेनापतित्व की प्रशंसा कर रहा है। अतः उनका मुखमंडल खिल उठा। उनको प्रसन्न करने के निमित्त तथा सेनापति की रक्षा को ही प्रधान कर्तव्य बताने के निमित्त वह केवल द्रोणाचार्य से ही नहीं अपितु सभी सेनानायकों से कहने लगा—देखिये, सेना के समस्त लोगों का, विशेषकर अर्धीनस्थ सेनापतियों का यह प्रधान कर्तव्य है, कि वह सर्वोच्च सेनानायक प्रधान सेनापति की सभी प्रकार से रक्षा करे.क्योंकि सेनापति की सुरक्षा से ही सम्पूर्ण सेना सुरक्षित रह सकती है, अतः आप सब लोग, अपने अपने नियुक्त स्थानों पर दृढ़ता से डटे रह कर सब ओर से भीष्म पितामह की ही रक्षा करना। पितामह सब ओर देख नहीं सकते, वे तो युद्ध में रत रहेंगे, आप लोग सब ओर से देखते रहो, कोई उनपर आगे से, पीछे से, इधर उधर बगलों से प्रहार न कर सके।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! दुर्योधन ने भीष्म पितामह की रक्षा पर ही इतना भारी बल क्यों दिया?

इस पर सूतजी बोले—महाराज! युद्ध में सेनापति ही तो सब कुछ होता है। स्वयं लड़ लेना—अपने बराबर के योद्धा से युद्ध कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। सभी को लडाना, सबकी रेख देख व्यवस्था करना यही सबसे श्रेष्ठ कार्य है। यदि सेनापति बुद्धिमान, तेजस्वी, उत्साही शूरवीर और नीति निपुण है, तो वह मृतक सैनिकों में भी प्राणों का संचार कर सकता है। यदि सेनापति निर्बल, भीरु तथा बुद्धि रहित है तो वह वीर योद्धाओं को भी कायर बना सकता है। युद्ध के प्राण सेनापति ही बताये हैं। कितनी भी बड़ी सेना हो, उसमें सेनापति न हो, तो वह कभी भी विजय प्राप्त नहीं कर सकती। यदि योग्य सेनापति है, तो सैनिक चाहें जितनी कम हो, विजयश्री उसी का

वरण करेगी। इस सम्बन्ध में महाभारत में एक कथा है।

एक बार क्षत्रियों के अत्याचारों से दुखी होकर ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों ने मिलकर क्षत्रियों से युद्ध आरम्भ कर दिया। ये तीन वर्ण के लोग संख्या में बहुत अधिक थे। क्षत्रिय थोड़े थे, किन्तु जब वे लोग चढ़ाई करते, विजय क्षत्रियों की ही होती। तब वे सभी मिलकर एक राजर्षि क्षत्रिय के समीप गये और जा कर पूछा—राजन! हम लोग संख्या में अत्यधिक हैं। क्षत्रिय हमारी अपेक्षा संख्या में बहुत ही न्यून हैं, फिर भी विजय क्षत्रियों की ही होता है, सदा हमारी पराजय ही क्यों होती है। आप ऐसा उपाय बतावें जिससे हमारी विजय हो।

राजर्षि क्षत्रियने बताया—महानुभावों! ये संख्या में अवश्य अधिक हैं, किन्तु आप सबके सब मन मानी करते हैं, कोई किधर जाता है, कोई किधर। हम लोग क्षत्रिय अपने में से एक को सेनापति बना लेते हैं, उसी की आज्ञा में चलते है। वह जो कहता है हम सब उसी का पालन करते हैं। सेना का प्राण सेनापति ही होता है, इसी से हमारी विजय होती है। आप में कोई सेनापति नहीं इसी से आप की पराजय होती है। आप सब मिलकर अपने में से एक को सेनापति बनाइये। सभी उसी की आज्ञा में चलिये, सब मिलकर उसकी ही रक्षा कीजिये, फिर देखिये आप की कैसे पराजय होती है।

यह सुनकर तीनों वर्ण वालों ने अपने में से एक श्रेष्ठ बुद्धिमान अनुभवी व्यक्ति को सेनापति चुन लिया। सब उसी की आज्ञा में चलने लगे। सभी ओर से सभी छोटे छोटे सेनानायक उसकी रक्षा करने लगे। अब के उनकी विजय हो गयी।

सूतजी कह रहे हैं—सो, मुनियो! सेनापति के पद का महत्व

समझकर ही भीष्म पितामह को प्रसन्न करने के निमित्त दुर्योधन श्रीद्रोणाचार्य से कह रहा है, हम सबमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ श्रीभीष्म पितामह ही हैं, वे ही हम सबके अधिपति और सर्वस्व हैं. उनकी रक्षा ही हमारी रक्षा है, अतः आप सब ओर से इनकी रक्षा करें। गूढ़ भाव यह भी हो सकता है. कि इनका हृदय तो पांडवों की ओर है शरीर से ये हमारी ओर से लड़ रहे हैं अतः आप सब लोग दृढ़ता से अपने अपने मोरचों पर डटे रहें और सावधानी के साथ भीष्म पितामह पर भी दृष्टि रखें। ये युद्ध में शिथिलता न करने पावे। अवसर पाकर किसी ओर से शत्रु इन पर प्रहार न करने पावे।

दुर्योधन सुना तो भीष्म पितामह को रहा है, और सम्बोधन कर रहा है द्रोणाचार्य को। एक तीर में वह दो आखेट करना चाहता है, द्रोणाचार्य को तो सावधान करना चाहता है और भीष्म पितामह की प्रशंसा करके हर्षोन्मत्त करना चाहता है। द्रोणाचार्यजी तो उसका अभिप्राय समझ रहे थे, अतः चुपचाप गंभीरता पूर्वक उसकी बातों को सुनते रहे, उन्होंने उसकी बातों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया, किन्तु भीष्म पितामह तो अपनी इतनी भारी प्रशंसा सुनकर हर्षोन्मत्त हो उठे। राजा होकर यह मेरी इतनी प्रशंसा कर रहा है। मेरा इतना अधिक सम्मान कर रहा है। इसलिए उसे हर्षित करने के निमित्त वे भी कुछ करने लगे। अब अपनी प्रशंसा सुनकर वे बहुत ठीक बहुत ठीक कहते या साधु साधु कह कर उनके बचनों का अभिनंदन करते, तो यह सदाचार के विरुद्ध होता, अपनी ही प्रशंसा का अभिनंदन करना आत्मश्लाघा के समान है, अतः दुर्योधन को हर्षित करने के निमित्त जैसे उन्होंने शंख बजाया उसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

तातैं सबई सम्हरि सम्हरि निज निज थाननिमें ।
उप सेनापति सैन डटौलै दशहु दिशनिमें ॥
आगे पीछे दीठि रखो अरि आन न पावें ।
सेनापति कूँ घेरि रहो सब दायें बायें ॥
एक हि सबको काज है, मेरी सिख सब हिय धरो ।
सब प्रकार सब ओर तैं, भीषम की रक्षा करो ॥

हर्ष ध्वनि

[६]

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ०१२,१३ श्लो०)

छप्पय

निज इस्तुति सुनि भीष्म पितामह परम प्रतापी।
गद्‌गद बानी अति प्रसन्नता हियमें व्यापी॥
सुख पहुँचावन हेतु सुयोधनकूँ सेनापति।
सिंह दहाड़ समान गरजिकें शब्द करयो अति॥
अपनो शंख बजाइकें, हरप प्रकट करिबे लगे।
भीषन रव सुनि शंखको, कायर रन तजिबे लगे॥

यह संसार स्वार्थ प्रिय है। कुछ परोपकारियों को छोड़कर

---

*सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! संजय धृतराष्ट्र को सुना रहे हैं कि राजन्! जब दुर्योधन ने भीष्म की प्रशंसा की तब कुरुकुल में वृद्ध भीष्मपितामह जो अत्यंत प्रतापशाली हैं वे दुर्योधन को हर्षित करने के निमित्त सिंहनाद के समान उच्चस्वर से गरज कर शंख को फूँकने लगे। उनके शंखनाद के साथ ही शंख, नगारे, ढोल मृदंग नरसिंघे आदि सभी बाजे एक साथ ही बजने लगे। उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा ही भयंकर हुआ।

सभी अपने स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न हैं। जहाँ दो स्वार्थ अनुकूल बैठ जाते हैं, जहाँ दो स्वार्थ परायण व्यक्तियों के स्वार्थ समान हो जाते हैं वहीं कार्य होने लगता है। पैसे वालों को काई काम कराने का स्वार्थ है, श्रमिक को श्रम करके पैसा पैदा करने का स्वार्थ है। दोनों स्वार्थ एक हुए काम होने लगा। आश्रम वाले चाहते हैं, हमारे आश्रम में एक भवन बन जाय, धनिक चाहते हैं हमारे या हमारे अमुक सम्बन्धी के नाम से कोई भवन विख्यात हो जाय, श्वेत पाषाण की पट्टिका पर उनका नाम अङ्कित हो जाय, दो स्वार्थ टकरा गये, दोनों एक दूसरे के अनुकूल पड़ गये। दोनों प्रसन्न हो गये। भवन का निर्माण हो गया।

मनुष्य जहाँ भी जायगा, अपनी स्वार्थ के सिद्धि निमित्त जायगा। अपने स्वार्थ को लेकर जो स्वयं किसी के समीप जाता है, वह लघु बनकर अपने-सम्मान को तिलाञ्जलि देकर—अपने को लघु मानकर जाता है। जिसके पास अपना काम कराने जाता है, उसकी परिस्थिति को वह समझता नहीं कि इन्हें याचना करने पर कितनी असुविधायें होंगी, और मेरे काम को न कर सके, तो इन्हें कितना संकोच होगा। इधर वह भी नहीं समझता कि किन किन परिस्थितियों के कारण, किस विवशता से विवश होकर यह अपने सम्मान को तिलञ्जलि देकर स्वयं मेरे समीप आया है। माँगने वाले को यदि देने वाले की असुविधाओं का ज्ञान होता तो उसे माँगने का साहस ही न पड़ता वह कभी माँग नहीं सकता और यदि जो माँगने आया है, उसकी विवशता का पूर्ण ज्ञान होता तो जिसके पास माँगने आया है वह कभी शक्ति रहते मना नहीं कर सकता।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! दुर्योधन, अपनी पद प्रतिष्ठा को भुलाकर—अपनी विजय की अभिलाषा से द्रोणाचार्य के समीप गया। बड़ों को प्रसन्न करना कोई सरल काम नहीं। बड़ों से एक

तो खुल कर स्पष्ट यह कहा नहीं जाता, आपको हमारा यह काम करना ही पड़ेगा। उनसे बातें घुमा फिराकर शिष्टता के साथ की जाती हैं। यह भी ध्यान रखा जाता है, कि किसी शब्द से इनका अपमान न हो जाय। प्रशंसा भी इस ढंग से की जाती है, कि उसमें बहुत अत्युक्ति न हो जाय। वे ये न समझें कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये यह मेरी कितनी बढ़ा चढ़ाकर मिथ्या प्रशंसा कर रहा है। जहाँ तक हो किसी दूसरे को लक्ष्य करके कहा जाता है। जैसे एक छोटा सा उदाहरण लें। दुर्योधन को कर्ण का सारथी शल्य को बनाना था, शल्य क्षत्रिय था, मूर्धाभिषिक्त राजा था, उसकी अपनी निजी सेना थी, सम्बन्ध की दृष्टि से भी श्रेष्ठ था, कौरव पांडवों का मामा था। सूत का पद रथ हाँकने का कार्य बहुत छोटा है। दुर्योधन अपने स्वार्थ में अन्धा हो रहा था, उसे इस बात की चिन्ता नहीं थी, कि शल्य का इसमें कितना भारी अपमान है, जाते ही उसने इधर उधर की बातें बनाकर अपना प्रस्ताव रखा। यह सुन कर शल्य अत्यंत ही भड़का। वह अपने सेना को लेकर जाने लगा। तब दुर्योधन ने उसके पैर पकड़े, भाँति भांति से उसकी प्रशंसा करने लगा। बोला—मामाजी ! मेरा तात्पर्य आपका अपमान करने का नहीं था, किन्तु सोचिये अर्जुन के सारथी श्रीकृष्ण हैं। मेरी सेना में, श्री कृष्ण के समान सारथी विद्या विशारद आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है। यही नहीं मैं तो आपको श्रीकृष्ण से भी बढ़कर मानता हूँ।"

बस, फिर क्या था, शल्य इतना सुनते ही पानी पानी हो गये वे परम हर्षित होकर बोले दुर्योधन ! तैंने मेरी बराबरी श्रीकृष्ण से की है इससे मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ तू जो कहेगा वही मैं करूंगा।" इससे दुर्योधन भी प्रसन्न हो गया, कि मेरा लक्ष्य ठीक स्थान पर बैठा।

दुर्योधन को अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। कर्ण तो उसका मित्र ही ठहरा। मित्र भी ऐसा कि जो अपने अधीन है आज्ञाकारी है, उसके उपकारों से सेवा, सुश्रूषा से दबा हुआ है। उससे से तो वह जो काम भी होगा स्पष्ट रूप से कह सकेगा। कह ही न सकेगा, करने के लिये बल भी डालेगा, आग्रह भी करेगा। किन्तु ये भीष्म और द्रोण दो ऐसे हैं, कि जिन्हें आगे किये काम भी नहीं चल सकता और इन्हें स्पष्ट आज्ञा भी नहीं दे सकते। इन्हें तो प्रशंसा द्वारा प्रसन्न करके ही स्वार्थ साधा जा सकता है यही सोचकर वह द्रोणाचार्य के सम्मुख भीष्म पितामह की प्रशंसा करने लगा।

भीष्मपिता मनस्वी थे, तेजस्वी थे, अपने कुल में सर्वश्रेष्ठ थे। बड़े प्रतापी थे वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, पदेनवृद्ध, तथा अस्त्र-शस्त्रों में भी सब से बढ़ चढ़कर थे। वे दुर्योधन के मनोगत भावों को समझ गये। वे जान गये द्रोणाचार्य के माध्यम से यह मेरी ही प्रशंसा कर रहा है। यह पांडवों की सुसज्जित सेना को देखकर भयभीत हो रहा है। अपने भय को स्पष्ट नहीं कहता। उसे छिपा रहा है, इसे निर्भय करना चाहिये। मेरी ओर से इसे निश्चिन्त हो जाना चाहिये। यही सब सोचकर उसे प्रसन्न करने के निमित्त उसकी चिन्ता को मिटने के निमित्त उन्होंने मुख से कुछ नहीं कहा अपनी चेष्टाओं से उसे यह दर्शा दिया बेटा! तू चिन्तित क्यों होता है जब तक यह बूढ़ा सिंह बैठा है, तेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। इसीलिये उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर अपने शंख को फूँका। अर्थात् यह कहा लो, मैं युद्ध करने की घोषणा करता हूँ। पूरी शक्ति से इसलिये शंख बजाया कि देखना मेरा पौरुष जितनी शक्ति से मैं शंख बजा रहा हूँ उतनी ही शक्ति से लड़ूँगा भी। शत्रुओं के छक्के छुड़ा दूँगा अपने शंख की ध्वनि से ही मैं उन्हें अधमरा किये देता हूँ

कायर लोग तो मेरे शंख को ही सुनकर भाग खड़े होंगे। इस लिये दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये, उसे उत्साहित करने के निमित्त उसके भय संशय को भगाने के लिये, वीरों के हृदयों में वीरता जगाने के लिये, सेना को युद्ध मे लगाने के लिये, वाहनों को सजाने के लिये और युद्ध का आरंभ करने के लिये उन्होंने शंख बजाया।

सेनापति के पूरी शक्ति से शंख बजाते ही सभी ने समझ लिया युद्ध आरंभ हो गया। सेना के आगे सुसज्जित जो बाजे बजाने वाले खड़े थे उन्होंने भी भीष्मकेशङ्ख सुनते ही बाजे बजाने आरंभ कर दिये। जिनके पास शंख थे वे सभी शंखों को बजाने लगे, जिनके पास भेरी थी वह भेरी बजाने लगे। मृदंग वाले मृदंग, पखावज वाले पखावज गोमुख वाले गोमुख तथा जिन पर जो भी बाजे थे वे सब सेनापति का संकेत पाते ही बजाने लगे। ये सब बाजे सर्वप्रथम कौरव सेना के बाजे वाले ही बजाने लगे।

पांडव सेना को पहिले से कोई सूचना नहीं दी गई थी, कि अब सावधान हो जाओ युद्ध का आरंभ होने ही वाला है। नियमानुसार विपक्ष को सूचना देकर युद्ध आरंभ करना चाहिये, किन्तु दुर्योधन की प्रशंसा सुनकर पितामह इतने आत्मविभोर हो गये कि उसका प्रसन्नता के लिये उस समय सहसा शंख फूँकने लगे। चारों ओर से बाजे ही बाजे बजने लगे। उन बाजों के शब्द के सम्मुख सभी शब्द दब गये।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! भीष्म पितामह ने ही सर्व-प्रथम शंख क्यों बजाया?

इस पर सूतजी कहने लगे—महाराज! युद्ध तो कौरव ही करना चाहते थे, धर्मराज तो युद्ध के विरुद्ध थे, यहाँ तक कि सदा युद्ध को उधार खाये बैठे रहने वाले

भीम भी युद्ध के विरुद्ध थे। श्रीकृष्ण जब धर्मराज की ओर से दूत बनकर कौरवों की सभा में जाने लगे तब भीम ने यही कहा—महाराज, जैसे हो तैसे युद्ध को रोकियेगा, हम भाई भाइयों में संग्राम न हो।' धर्मराज ने सभी उपायों से युद्ध रोकने की पूरी चेष्टा की। जो युद्ध चाहता ही नहीं वह युद्ध का आरंभ अपनी ओर से कैसे करे। उन्होंने सोचा—हम आक्रमण न करेंगे, यदि हमारे ऊपर आक्रमण होगा तो हम आत्मरक्षा के लिये उसे रोकेंगे। प्रत्याक्रमण करेंगे। इसीलिये भीष्म पितामह ने ही कौरवों की ओर से पहिले युद्ध का श्रीगणेश किया।

दूसरी बात यह कि भीष्मपितामह ही दोनों सेनाओं में सबसे बड़े हैं, बड़े जब आज्ञा देंगे तभी युद्ध का आरम्भ होगा। पांडव मर्यादा का पालन करने वाले हैं।

तीसरे पांडव तो भयभीत नहीं हैं, भयभीत तो दुर्योधन है उसे ही अपनी विजय में शंका है, अतः शंकित व्यक्ति ही सर्वप्रथम आत्म रक्षा का प्रयत्न करता है,जो निर्भय है वह तो खड़ा खड़ा खेल देखता रहता है।

चौथा कारण यह भी है श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने सन्मुख ही जुते हुए रथ की रश्मियों को पकड़े खड़े थे। घोड़े बारम्बार उछल कूदकर रहे थे। श्रीकृष्ण शंख हाथ में लिये तैयार खड़े थे, वे बारबार शंख को मुख तक ले जायँ किन्तु सदाचार संकोचवश बजाते नहीं थे, भीष्म उनके पांचजन्य का शब्द सुनने को अधीर हो उठे, उन्होंने सहसा शंख बजाकर संकेत किया—माधव ! बजाओ बजाओ अपने पांचजन्य को लो, मर्यादा का ही पालन कराना चाहते हो तो मैं बजा रहा हूँ अब तो बजाओ मेरे श्यामसुन्दर ! अब तो सुना दो तान में नटनागर।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! धृतराष्ट्र ने संजय से यही पूछा

था—मेरे और पांडु के पुत्र समर भूमि में क्या करते भये। बड़े होने के नाते पहिले उन्होंने अपने पुत्रों का नाम लिया, तदनन्तर पांडु के पुत्रों का उसी क्रम से संजय ने उत्तर भी दिया। अब तक उसने दुर्योधन के पक्ष की ही बातें बताई। धृतराष्ट्र के पुत्रों की बात बताकर अब संजय पांडवों की सेना की जैसे बातें बताने लगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तब तो बजिबे लगे युद्ध के सबई बाजे।
सबनि सम्हारे शस्त्र साज सैनिक सब साजे॥
विविध भाँति के शंख बजे बाजे अति प्यारे।
ढोल खोल करि बोल बजें मिरदंग नगारे॥
चंग मृदंग बजें बहुरि, कोलाहल अतिशय भयो।
नरसिंहा को शब्द सुनि, बीरनि बल बहु बढ़ि गयो॥

———

और कभी किसी को लड़की को ही स्वयंवर से लेकर भाग आते हैं। आज ये लड़ने के लिये नहीं लड़ाने के लिये चले हैं। आज स्वयं सप न पकड़ कर दूसरों से पकड़वावेंगे, वे समीप में ही सर्पों के कीलने का मंत्र पढ़ते रहेंगे। दूसरों से कहेंगे—बामी में हाथ तू डाल, मंत्र मैं पढ़ूँगा। आज वे रथी बनकर रणभूमि में शत्रु सेना का संहार करने नहीं चले हैं, आप तो सारथी बनकर स्वयं रथी के रथ में जुते घोड़ों का बाग पकड़कर लड़ाने को चले हैं। अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर देखते नहीं, कौरव दल सुसज्जित खड़ा है लड़ने के लिये। दुष्ट दुर्योधन कुछ मंत्रणा करने दौड़ा दौड़ा द्रोणाचार्य के समीप गया है। युद्ध अब आरंभ हो होने वाला है। आप सोच क्या रहे हैं। मेरा रथ सम्मुख क्यों नहीं लाते, मुझे अपनी सेना के अग्रभाग में ले क्यों नहीं चलते।"

झूठी गंभ रता दिखाते हुए श्यामसुन्दर बोले—बहुत अच्छा श्रीमन्! जो आज्ञा मैं अभी रथ उपस्थित करता हूँ, इन बातों से दोनों हो मुस्करा उठे। रथ आ गया। अर्जुन का रथ अन्य रथों की भाँति सामान्य रथ नहीं था। वह अग्निदेवका दिया हुआ रथ था। खांडव दाह के समय जब अग्निदेव ने श्रीकृष्ण अर्जुन के समीप खांडव वन को दाह करने की इच्छा प्रकट की और उन दोनों से अपनी सहायता करने की प्रार्थना की तो दोनों ने उन्हें सहयोग दिया। खांडव दाह करने के लिए अग्निदेव ने यह दिव्य रथ अर्जुन को दिया था। इसकी अव्याहत गति थी, यह तीनों लोकों में बिना रोक टोक के जा सकता था। बगुला के पंख के समान श्वेत रंग के उसमें चार घोड़े जुते हुए थे। जैसा ही अग्नि प्रदत्त यह दिव्य रथ था, वैसे ही इनमें शुभ्र वर्ण के दिव्य घोड़े थे। चित्ररथ गन्धर्व ने स्वच्छ सफेद रंग के १०० घोड़े अर्जुन को दिये थे। इनकी यही विशेषता थी, कि इनमें से चाहे जितने

मर जाँय, ये सौ के सौ ही बने रहते थे। अर्थात् ये अमर और दिव्य थे। उन्हीं घोड़ों में से चार घोड़े भगवान् ने रथ में तुरन्त जोत दिये और रथ लाकर अर्जुन के सम्मुख खड़ा कर दिया, फिर वैसे सारथी अपने रथी से शिष्टाचार से बोलता है, उसी प्रकार झूठी गंभीरता के स्वर में बोले—श्रीमन्! आपकी आज्ञानुसार रथ समुपस्थित है, आप पधारें और इस रथ को अलंकृत करें।

सैनिक वेष में अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित, वस्त्राभूषणों से अलंकृत वीर वेष में अर्जुन आकर उस रथ में बैठ गये। आज श्यामसुन्दर ने चतुर्भुज रूप धारण किया है। एक हाथ से तो वे घोड़ों की रस्सियाँ—बाघों को साधे हुए हैं, एक हाथ में घोड़ों को हाँकने का तोत्र (कोड़ा) है। एक हाथ में दिव्य शंख है और दूसरे में क्रीड़ाकमल है। युद्ध उन्हें करना नहीं, किसी को मारना है नहीं, अतः आज चक्र और गदायें दोनों नहीं हैं। रथी के बैठ जाने पर अनोखे सारथी ने रथ चला दिया। घर्र घर्र शब्द करता हुआ रथ चल दिया, उसकी छोटी छोटी घंटियाँ बज रहीं थीं विशाल वानर ध्वजा फहरा रही थी। इन्द्रधनुष के समान वह आकाश में लहरा रही थी, उसमें बैठा वानर गर्जन कर रहा था। रथ आकर पांडव सेना के अग्र भाग में खड़ा हो गया।

अर्जुन युद्ध के लिये अत्यन्त ही अधीर हो रहे थे, उन्होंने श्यामसुन्दर से पूछा—श्यामसुन्दर! अब क्या देर है। बजाऊँ शंख, होवे खटापट चटाचट।"

अब सारथी की त्यौरियाँ चढ़गयीं, रथी को डाटते हुए बोले—अरे, तुम मर्यादा नहीं जानते। भीष्मपितामह के रहते, तुम्हें सर्व प्रथम शंख बजाने का क्या अधिकार है। अरे, भाई अब तक यमराज इन बूढ़ों पर दया करते हैं, इन्हें अपने समीप

बुला नहीं लेते तब तक ये मार्ग रोके युवकों के सम्मुख खड़े ही हो रहते हैं। इनके रहते युवक किसी भी कार्य की पहल नहीं कर सकते। जब तक यह बूढ़ा सिंह दहाड़ता नहीं, तब तक हम सबको इसी प्रकार चुपचाप खड़े रहना पड़ेगा। तुमसे अधिक तो युद्ध कराने को मैं उत्सुक हूँ, किन्तु यह बूढ़ा कहे तब न ?

रथी यह सुनकर चुप हो गया, भीष्मपितामह की आज्ञाकी प्रतिज्ञा करने लगा। वह कुछ सोचने लगा। सोच रहा होगा— ये बूढ़े भी कैसे जीवन यात्रा में रोड़े बनकर खड़े हो जाते हैं, न तो मार्ग ही छोड़ते हैं न दूसरों को आगे ही बढ़ने देते हैं। इसी बीच में दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये भीष्मपितामह ने बड़े जोर से शंख बजाया उनके शंख बजाते ही समस्त बाजे बजने लगे। अर्जुन ने भीष्म के शंख का शब्द सुना ही नहीं, वह तो विचारों में मग्न था जब सहसा सभी बाजे बजने लगे घोर तुमुल शब्द होने लगा। दशों दिशाओं में इतना भयंकर शब्द भर गया, कि आकाश गूंज उठा तो श्रीकृष्ण ने अपने सारथी को सचेत करने के निमित्त सर्व प्रथम अपने पांचजन्य नामक शंख को बजाया। उस कोलाहल में वे कह तो सकते नहीं थे, कि अब भीष्मपितामह ने शंख बजा दिया, तू भी बजा। उस समय तो भीष्म के शंख बजाते ही अकस्मात् असंख्यों बाजे बज उठे।

जब समीप ही सदा का सुपरिचित दिव्य पाँचजन्य का अर्जुन ने शब्द सुना तो बिना पूछे ही उसने भी अपना शंख बजाना आरम्भ कर दिया। यह नहीं कि वह पूछता—कि, भीष्मपितामह ने शंख बजा दिया क्या। श्रीकृष्ण के शंख की तनिक सी ध्वनि सुनते ही अपने आप शंख उसके मुख के समीप चला गया और वह भीषण शब्द उगलने लगा। यद्यपि पहिले बजाया तो हृषीकेश श्यामसुन्दर ने ही, किन्तु उनकी फूँक समाप्त

नहीं हुई थी, उसी बीच इसने भी बजा दिया, तो लोगों को प्रतीत यही हुआ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही अपने अपने शङ्खों को साथ साथ ही बजा रहे हैं।

श्रीकृष्ण के शङ्ख का नाम था, पाँचजन्य और अर्जुन के शङ्ख का नाम था देवदत्त। ये दोनों ही शङ्ख दिव्य थे और दोनों का ही शब्द अत्यन्त भयंकर तथा शत्रुओं के छक्के छुड़ा देने वाला था, भगवान् के पाँचजन्य के शब्द से तो सभी लोग परिचित थे, उसके बजाने का ऐसा ढङ्ग था, कि सुनने वाले उसके शब्द को ही सुनकर समझ जाते थे, कि इस समय यह प्रसन्नता के लिये बज रहा है, इस समय यह शत्रु सेना के संहार के निमित्त बज रहा है। जब भगवान् हस्तिनापुर से द्वारका गये थे, तब द्वारका के समीप पहुँच कर भी भगवान् ने अपना शङ्ख बजाया था, उसे सुनकर सब द्वारकावासी हर्षित हुए और यही समझा श्यामसुन्दर आ गये हैं। आज युद्ध भूमि में इस शब्द को सुनकर सैनिक समझ गये, कि युद्ध आरंभ होने ही वाला है।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! श्रीकृष्ण और अर्जुन के शङ्खों का नाम पाँचजन्य और देवदत्त क्यों पड़ा। इन पर ये शङ्ख आये कहाँ से?"

सूतजी बोले—महाराज! भगवान् के तो अस्त्र आयुध सब नित्य होते हैं। जो जीव अनन्त काल तक ब्रह्मचर्य से रहकर व्रत उपवास द्वारा तपस्या करते हैं, भगवत् कृपा प्राप्त करते हैं, वे ही भगवान् के अस्त्र आयुध होते हैं, जिन्हें भगवान् अपने श्री अंगों में सदा धारण करते रहते हैं। यह पाञ्चजन्य भी किसी शापवश दैत्य हो गया था। यह दैत्य जाति का असुर बहुत दिनों तक प्रभास क्षेत्र के समीप समुद्र में रहता था। समुद्र चाहता था, किसी प्रकार यह दैत्य यहाँ से निकले दैत्य बड़ा बली था, भगवान् का भक्त था। उसे

निकालना समुद्र की शक्ति से बाहर था। जब बलदेव कृष्ण दोनों भाई अवन्तिका पुरी में सान्दीपनिमुनि के पास विद्या पढ़ने गये और पढ़ने के अनन्तर जब उन्होंने गुरुदक्षिणा माँगने को कहा, तो मुनिवर ने अपनी पत्नी की सम्मति से यही दक्षिणा माँगी, कि हम एकबार प्रभास क्षेत्र में स्नान के निमित्त गये। वहाँ स्नान करते समय, समुद्र की एक लहर आई हमारा लड़का बह गया और वह अकाल में ही डूब कर मर गया। उसे आप लोग फिर से जीवित करके ला दें।"

भगवान के लिये यह कौन सी बड़ी बात थी, उन सर्वज्ञ से यह बात छिपी नहीं थी की लड़का तो यमराज के अधीन नीचे के लोक में है। फिर भी समुद्र को दर्शन देने तथा पञ्चजन पर कृपा करने वे प्रभास में समुद्र के तटपर गये और समुद्र से गुरु पुत्र को माँगा।"

समुद्र ने कहा—भगवान्! मेरे पास तो वह लड़का है नहीं मेरे पास होता, तब तो मैं दे ही देता। हाँ, मेरे जल में एक दैत्य जाति का पञ्चजन नाम का असुर रहता है। वह शङ्ख का रूप रखकर कर प्राणियों को उदरस्थ कर जाता है। संभव है उसी ने आपके गुरुपुत्र को उदरस्थ कर लिया हो।"

यह सुनकर भगवान् ने उस शङ्ख रूपधारी असुर को मारा उसके पेट में बालक कहाँ रखा था, किन्तु वह बड़ा अच्छा था, भगवान् के चित्त पर चढ़ गया। जो भगवान् के चित्त पर चढ़ गया। उसके भाग्य का तो कहना ही क्या? भगवान ने उसे धो धा कर अपना लिया पञ्चजन दैत्य की देह से यह शङ्ख निकलाया, इसलिये यह "पाञ्चजन्य" नाम से विख्यात हुआ भगवान् श्रीकृष्ण इसे सदा अपने कर कमलों में धारण करते हैं। इसका शब्द बड़ा ही भीषण तथा श्रुत मधुर होता है। इसलिये पांडव पक्ष की ओर से सर्वप्रथम भगवान् का यही दिव्य शङ्ख बजा।

अर्जुन के शङ्ख का नाम देवदत्त था, अर्जुन जब देवराज इन्द्र से अस्त्र शस्त्र सीखने स्वर्ग गये थे तब इन्द्र ने निवातकवचादि दैत्यों के साथ युद्ध करते समय "देवदत्त" नामक दिव्य शङ्ख इन्हें दिया था। देवताओं का दिया हुआ होने से ही इसका नाम देवदत्त था। भगवान् श्रीकृष्ण के शङ्ख का तो पूछना ही क्या वह तो परम दिव्य था ही, किन्तु अर्जुन का भी शङ्ख दिव्य ही था। इसीलिये दोनों शङ्खों को दिव्य कहा गया।

जब श्रीकृष्ण और अर्जुन ने शङ्ख बजाने आरम्भ कर दिये, तो फिर भीमसेन कैसे रह सकते हैं। वे तो भगवान् के संकेत पर ही नाचने वाले ठहरे, वे भगवान् के शङ्ख बजाने की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वे तो भीमकर्मा ही ठहरे। एक चक्रा नगरी में जो राक्षस अजेय समझा जाता था, किसी से नहीं मरता वह इन्होंने मार दिया। मत्स्य देश का विख्यात वीर कीचक जिसकी सर्वत्र धाक थी, उसे इन्होंने ही मार दिया, द्रौपदी के स्वयंवर में जब सभी राजा एक साथ द्रौपदी को छीनने को अर्जुन के ऊपर टूट पड़े तब इन्होंने ही बड़ा भारी पेड़ उखाड़कर सबको मार भगाया। लाक्षागृह से आने पर हिडंब राक्षस इनके सभी भाइयों को खा जाना चाहता था, उसे इन्होंने ही परलोक पठाया। इनके ऐसे अद्भुत कार्यों को देखकर और सवा मन हलुए का केवल कलेऊ करने से ही भगवान् हँसी में इन्हें भीम कर्मा और कभी कभी पेटू भी कहा करते थे। जब चिढ़ाना होता, तभी इनसे पेटू कहते कहीं अब भी मुझे पेटू न कह दें इसलिये इन्होंने अपने बड़े भारी शङ्ख को पूरी शक्ति के साथ बजाया। इनके शङ्ख का नाम "पौण्ड्र" था।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! भीमके महाशङ्ख का नाम पौण्ड्र कैसे पड़ा।

शीघ्रता से सूतजी बोले—"अब महाराज! प्रत्येक के शङ्ख

के नाम का इतिहास न पूछिये। शङ्खों के अपनी इच्छा के अनुसार सबने नाम रख लिये होंगे। दिग्विजय के समय भीम 'पौंड्र' देश गये होंगे। उधर समुद्र तो है ही, बड़ाभारी "महाशङ्ख" देखकर इन्होंने उसे पसन्द कर लिया होगा, उस देश के नाम पर इस शङ्ख का भी नाम रख दिया होगा। नाम ऐसे ही रखे जाते हैं। देश के कारण, काल के कारण और पात्र के गुण अवगुणों के कारण।

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! आपने ठीक कहा। भगवान के शङ्ख के सम्बन्ध में तो हमें जिज्ञासा थी ही, अर्जुन के शङ्ख की जिज्ञासा भी स्वाभाविक है, क्योंकि ये दोनों नर नारायण हैं। नारायण के दिव्य शङ्ख के सम्बन्ध में जान लिया, नर के शङ्ख के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली अब आगे सबके नामों की ऊहा पोह को क्या आवश्यकता है। हाँ, तो आप आगे की कथा कहिये।

सूतजी बोले—महाराज ! श्रीकृष्ण अर्जुन और भीम के शङ्खों के अनन्तर पांडव पक्षीय सभी मुख्य मुख्य वीर अपने अपने शङ्खों को बजाने लगे। उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

हृषीकेशने पाञ्चजन्य में फूँक लगाई।
तुरत धनञ्जय देवदत्तकूँ दयो बजाई॥
नर नारायण शङ्ख सुने सैनिक हरषाये।
अपने अपने मुखर शङ्ख इक संग बजाये॥
भीम करम प्रिय भीम ने, महा शङ्ख आनन धरयो।
पौण्ड्र नामके शङ्ख तें, अति ही भीषन रव करयो॥

—०—

युधिष्ठिरादि सभी वीरों द्वारा शंखध्वनि

[११]

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० १६, १७, श्लोक)

छप्पय

धरमराज नरदेव युधिष्ठिर कुन्तीनन्दन।
कृष्ण धनञ्जय, भीम शंख रव करि अभिनंदन ॥
अनँत विजय निज शंख बजायो सब हरषाने।
सैनिक धनि उनमत धनुष पै शर संधाने ॥
मनि पुष्पक सहदेव लै, नकुल सुघोषहु मुदितमन।
लगे बजावन शंख बर, भिषक्तनय शोभासदन ॥

जगत् परम्परा का पालन करता है, जिस पथ से हमारे पिता,

---

*सूतजी कहते हैं—मुनियो ! पांडव सेना के सभी वीर अपने अपने शंख बजाने लगे। कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर अनंत विजय नामक शंख को बजाने लगे। नकुल और सहदेव अपने सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंखों को इसी, प्रकार परम धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, महाराज विराट, और अजेय सात्यकि भी अपने अपने शंखों को बजने लगे।

पितामह तथा प्रपितामह आदि गये हैं, यदि हम उनके सत्पुत्र हैं, तो हम भी उसी पथ का अनुसरण करने का प्रयत्न करेंगे। ऊर्वारुक (खरबूजे) को पका देखकर दूसरा भी फल रंग बदलने लगता है। सामूहिक प्रार्थना में प्रथम पंक्ति वालों को जैसा करते देखते हैं, दूसरी पंक्ति वाले भी जान में अनजान में उन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। हमें जो काम करते देखते हैं, हमारे बच्चे खेल में उन्हीं को करने लगते हैं। यह मानव प्राणी अनुकरण प्रिय है। तभी समाज की शृङ्खला बँधी है, यदि सभी अपने मन की करने लगे। एक दूसरे का अनुकरण न करें, तो समाज में, सेना में, जाति में तथा सर्वत्र विद्रोह हो जाय।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भीष्म पितामह ने रणारम्भ का शंख बजा दिया, तो कौरव पक्षीय सभी वीरों ने एक साथ ही शंख बजाकर उनका अभिनंदन किया, उनके कार्यों का समर्थन किया, तदनंतर पांडवों की ओर से सर्व प्रथम श्रीकृष्ण ने शंख बजाया, तुरन्त ही अर्जुन ने भी अपना देवदत्त और भीम ने अपना पौण्ड्र नाम का शंख बजाया। अब तो शंखों की परम्परा चल पड़ी। दोनों ओर से शंख बजते देख और श्रीकृष्ण के पाँचजन्य की ध्वनि सुनकर सभी वीरगण चौंक पड़े, बिना समझे बूझे ही सहसा सभी अपने अपने शंखों को बजाने लगे।

कुन्तीनन्दन धर्मराज ने अपना अनन्त विजय नामक शंख बजाया, नकुल और सहदेव अब कब पीछे रहने वाले थे, उन दोनों ने भी सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंखों को बजाया। अब तो सभी अतिरथी महारथी शङ्ख बजाने लगे। धनुष धारियों में परमश्रेष्ठ काशीराज भी अपना शंख बजाने लगे। महाराज द्रुपद का प्रथम पुत्र जो पूर्व जन्म में अम्बा था, जो शिवजी के वरदान से कन्या रूप में प्रकट हुआ था, और उन्हीं के वर से वह पुरुष हो गया था, उसका नाम शिखण्डी था। यह भीष्म

की मृत्यु के लिये ही उत्पन्न हुआ था। अतः उसने भी अपना शंख बजाया। धृष्टद्युम्न, विराट और कभी भी पराजित न होने वाले सात्यकि ने भी अपना शंख बजाया।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! धर्मराज युधिष्ठिर के पहिले अर्जुन ने शंख क्यों बजा दिया, यहाँ तो मर्यादा भंग हो गयी। सर्व प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर को शंख बजाना चाहिये था, तब अन्यान्य पांडव बजाते।"

हँसकर सूतजी बोले—अब महाराज! हर समय यह नहीं देखा जाता कि उसने बजाया तब मैं बजाऊँ। युद्ध में एक बड़े ने आरंभ कर दिया, फिर जिसे भी अवसर मिला उसी ने बजाना आरंभ कर दिया। एक पांक्ति में सौ पचास आदमी भोजन करने बैठे हैं। जब सब परस गया और भोजन कराने वाले की ओर से कह दिया गया—"हाँ, सब हरीहर करें।" तो फिर यह नहीं देखा जाता, कि वे बड़े भोजन करना आरंभ कर दें, तब हम करें। उस समय तो जिसके हाथ में जो लड्डू मिठाई तथा अन्यान्य पदार्थ हाथ लग गये वह बिना दूसरे की प्रतीक्षा किये हुए भोजन करना आरंभ कर देता है, इसी प्रकार युद्ध में यह नहीं देखा जाता कि पहिले धर्मराज करे, फिरभीम, तबअर्जुन तदनंतर नकुल सहदेव। श्रीकृष्ण भगवान् के आरंभ करते ही जिसे जब अवसर मिला तभी वह बजाने लगा।

यदि आप तारतम्य ही लगाना चाहते हैं, तो देखिये यह युद्ध है। यहाँ अवस्था की बड़ाई छुटाई नहीं देखी जाती। यहाँ तो वीरता युद्ध में किसका कितना अधिक उत्साह है, इस बात की बड़ाई छुटाई देखी जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में आप उपनिषदों की एक कथा सुनिये।

एक छोटी अवस्था के ऋषि थे। अवस्था तो उनकी छोटी ही थी, किन्तु विद्वान बहुत भारी थे। वे विद्यार्थियों को पढ़ाते थे।

इनके यहाँ पढ़ने उनसे भी अवस्था में बड़े उनके पिता, चाचा, ताऊ तथा पितामह भी आते थे। एक दिन पढ़ाते समय उन्होंने सबको 'पुत्रों' कह कर सम्बोधित किया। इस पर कुछ ऋषियों ने आपत्ति की, कि ये अवस्था में छोटे हैं। बहुत से इनके पिता पितृव्य और पितामह आदि हैं, ये सबको "पुत्र" कह कर सम्बोधन क्यों कर रहे हैं।

इस पर श्रेष्ठ मुनियों ने समाधान किया। इस समय ये ज्ञान दे रहे हैं, ज्ञान दाता गुरु होता है, पढ़ाने वाला पढ़ने वालों की अपेक्षा बड़ा माना जाता है, ये ज्ञान वृद्ध हैं। अतः इनका पुत्र कहना कोई अनुचित नहीं। हम सब इनके शिष्य हैं, शिष्य और पुत्र में कोई अंतर नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो महाराज, युद्ध में अवस्था नहीं देखी जाती। ब्राह्मणों में तो ज्ञान से बड़ा माना जाता है, देखिये शुकदेवजी जब राजा परीक्षित् की सभा में गंगातट पर आये तो वहाँ उनके पिता वेदव्यासजी, उनके पितामह पराशरजी उन वृद्ध प्रपितामह भगवान वसिष्ठ बैठे थे। उनके आते ही सबके सब उनको सम्मान देने के निमित्त उठकर खड़े हो गये। क्योंकि ब्राह्मणों में वय की श्रेष्ठता न मान कर ज्ञान की श्रेष्ठता को ही प्राधान्य दिया जाता है। क्षत्रियों में वह बड़ा माना जाता है, जो वीरता में श्रेष्ठ हो। राजसूय यज्ञ में जब राजाओं में सर्वश्रेष्ठ राजा की प्रथम पूजा का प्रश्न उठा, तो अवस्था में श्रेष्ठ की प्रथम पूजा नहीं हुई। यदि अवस्था में श्रेष्ठ की पूजा होनी होती तो भीष्म पितामह की सर्व प्रथम पूजा होनी चाहिये थी। किन्तु हुई बहुतों से अवस्था में छोटे श्रीकृष्ण की। भीष्मपितामह ने उसी प्रसंग में स्पष्ट कहा, कि क्षत्रियों में अवस्था से छोटापन बड़ापन नहीं गिना जाता। जो क्षत्रिय वीरता मेंसबसे श्रेष्ठ हो, जो अन्यान्य क्षत्रियों को पराजित करके छोड़ दे वही सब से बड़ा माना

जायगा। इन क्षत्रियों में ऐसा कौन है, जिसे श्रीकृष्ण ने परास्त न किया हो।"

इस पर शिशुपाल कुछ बड़बड़ाया उसने कुछ तीन पाँच करी। श्रीकृष्ण को अग्र पूजा के अयोग्य ठहराया, सो बच्चूजी को प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा। यज्ञ की बलि बनना पड़ा। सो महाराज ब्राह्मणों में ज्ञान से, क्षत्रियों में बल पराक्रम से, वैश्यों में धन से और शूद्रों में अवस्था से बड़ाई छुटाई मानी जाती है। इसलिये यहाँ जिसे युद्ध में लड़ने का जितना ही अधिक उत्साह हो वह उतना ही बड़ा है। उसी क्रम से लगा लीजिये।

कौरव पक्ष में तो सब से श्रेष्ठ बली ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध तथा सभी कार्यों में वृद्ध भीष्मपितामह ही हैं। कौरव पांडव तथा श्रीकृष्ण भी उनका समान रूप से आदर करते है। वे अपनी ओर से श्रीकृष्ण का अत्यधिक सम्मान करते हैं, यह दूसरी बात है। उन्हें यद्यपि युद्ध में कोई विशेष उत्साह नहीं। वे नहीं चाहते भाई भाइयों में युद्ध हो। किन्तु जब दुर्योधन ने उन्हें सेनापति बना ही दिया सेना का सर्वोच्च सम्मान उन्हें प्रदान कर ही दिया, तब लड़ना तो उनका कर्तव्य हो है। जब दुर्योधन आकर द्रोणाचार्य के सम्मुख गिड़गिड़ाने लगा, शत्रु पक्षीय वीरों की वीरता का बखान करने लगा, तो उसके सन्तोष के निमित्त, उसे प्रसन्न करने के लिये तथा उसके उत्साह को बढ़ाने के लिये, बड़े होने के कारण प्रधान सेनापति होने के कारण सर्व प्रथम भीष्म का शंख बजाना ठीक ही है।

इधर युद्ध में सबसे अधिक उत्साह श्रीकृष्ण का हो है। दूत बनकर जाते समय जब भीमने जैसे बने तैसे सन्धि करके ही आप आवें, यह बात उनसे कही तब श्रीकृष्ण ने भीम की बहुत खिल्लियाँ उड़ाई। उन्हें पेटू भीरु न जाने क्या क्या कह डाला।

यह तो सभी ने स्वीकार किया है, कि श्रीकृष्ण न चाहते तो युद्ध न होता। युद्ध के सर्वप्रथम सूत्रधार ये ही नटनागर हैं। किन्तु ये दूसरे के कंधे पर शस्त्र रख कर लड़ना चाहते हैं, यश सम्मान दूसरों को देने में ही ये प्रमुदित होते हैं। ये युद्ध के लिये सन्नद्ध खड़े भीष्मपितामह के शंख की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। जब उन्होंने बजा दिया, तो इनसे नहीं रहा गया। तुरन्त इन्होंने अपना शंख फूँक दिया। नियमानुसार तो जब उधर के सेनापति ने शंख बजाया, तो इधर के सेनापति धृष्टद्युम्न को बजाना चाहिये था, किन्तु उसे पूछता ही कौन है वह तो नाम मात्र का प्रधान सेनापति था, काठ का घोड़ा था। सबके एकमात्र सूत्रधार वीरामणी श्रीश्यामसुन्दर ही हैं। इस बात को सभी जानते मानते हैं अतः उनका इधर से शंख बजाना न्याय संगत ही था। श्रीकृष्ण के सनातन साथी नरावतार अर्जुन हैं चाहे जैसे भी हों आज तो वे रथी हैं। मर्यादा में श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण को उनकी आज्ञा माननी चाहिये। जब सारथी ने शंख बजाया तो रथी क्यों चूके। अतः श्रीकृष्ण से दूसरी श्रेणी युद्धोत्साह में अर्जुन की मानी जायगी। तीसरी श्रेणी में भीम को आना ही चाहिये था। दुर्योधन ने भी भीम अर्जुन दोनों को उपमा में रख कर उपमेय में अन्य सत्रह वीरों को गिनाया था। भीम के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर आता है। धर्मराज युद्ध करना नहीं चाहते, किन्तु करना ही पड़े तो वे पीछे हटने वाले नहीं हैं, इसीलिये श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम के शंख बजाते ही उन्होंने अपना शंख बजा दिया। उनके अन्तर पांडवों में नकुल सहदेव दो ही बचे। उन्हें बजाना ही था। इसी प्रकार क्रम रख लीजिये।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! यह सब तो ठीक है, किन्तु ऐसा लगता है, व्यासजी युद्ध वर्णन करने में पांडवों का पक्षपात करते हैं।

सूतजी ने चौंककर कहा—क्यों महाराज ! किस बात में आपको पक्षपात प्रतीत हुआ ।

शौनकजी बोले—देखिये, श्रीकृष्ण और पाँचों पांडवों के शंखों का नाम तो गिनाया । और किसी के शंख का नाम लिया ही नहीं । सब वीरों के नाम ही गिना दिये । घास सी काट दी ।"

हँसकर सूतजी बोले—महाराज, उनके शंखों का नाम होता तो गिनाते, जो मुख्य मुख्य अपनी ओर के शंख थे, उनके नाम गिना दिये । शेष तो सभी धान बाइस पसेरी ही थे ।

शौनकजी ने कहा—अब देखो सूतजी ! आप भी पक्षपात कर रहे हो । मान लो, पांडव पक्षीय इतने ही प्रसिद्ध शंख थे, तो कम से कम कौरव पक्ष के किसी वीर के तो शंख का नाम गिनाते ।"

सूतजी बोले—अरे, महाराज ! वहाँ तो किसी का नाम गिनाने को भीष्म ने अवसर ही नहीं दिया । भीष्म के शंख बजाते ही, एक साथ इतने बाजे बजने लगे, कि गणना करने का अवसर ही न रहा ।

शौनकजी ने कहा—रहने भी दो सूतजी ! जान दो और किसी के नाम न गिनाते, कम से कम भीष्म के शंख का तो नाम गिना देते ।

सूतजी ने कहा—महाराज, भीष्म के शंख का नाम 'प्रताप' था । अर्थ यों कीजिये प्रताप है शङ्ख जिनका ऐसे भीष्मपितामह । फिर महाराज, शंख का नाम तो उनका गिनाया गया, जो युद्ध में जीवित बचे हों, भीष्म का तो निधन हो गया था । कौरव पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण पाँचों पांडव बच गये थे, इसीलिए उनके शंखों का नाम गिना दिया ।

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! यह तो आप कथावाचकी पन कर रहे हो । जब यही बात है तो युद्ध में तो सात्यकि भी बचे थे, उनके शंख का नाम क्यों नहीं लिया ?

हँसकर सूतजी बोले—अरे महाराज ! तभी तो सात्यकि का विशेषण अपराजित अर्थात् अजेय दिया।

शौनकजी बोले—अब सूतजी ! आप जो चाहे सो कहो। यदि युद्ध से बचने वालों के शंखों का ही नाम गिनाना था तो कौरव पक्ष में भी तो अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बच रहे थे, तब इनके भी शंखो का नाम गिनाते।

सूतजी ने हँसकर कहा—महाराज ! कह तो दिया गिनाते तो सही, किन्तु बूढ़े बाबा भीष्मपितामह ने तो सब गुड़ गोबर कर दिया। कोलाहल ही इतना अधिक हुआ कि उनके नाम गिनाने लगते, तब तक युद्ध ही छिड़ जाता। इधर के मुख्य मुख्य शंखों के नाम रह जाते। फिर महाराज, पक्ष विपक्ष को हृदय में रखकर ही तो ग्रंथ की रचना होती है। जिस पक्ष को न्याय संगत, श्रेष्ठ समझकर वर्णन किया जाता है, उसके प्रति कुछ न कुछ पक्षपात तो रहता ही है, नहीं तो गाड़ी आगे चले ही नहीं।

शौनकजी ने कहा—हाँ तो यह कहिये। अब आगे की कथा सुनाइये। फिर क्या हुआ।

सूतजी ने कहा—"फिर महाराज ! सभी क्रम से अपने अपने शंख बजाने लगे उन, शेषों के नाम मैं आगे बताऊँगा। तनिक फलों का रस दिलाइये गरमी अधिक हो गयी है, गला सूख गया है।

छप्पय

पांडव सेना माहिँ शंख की होड़ लगी है।
सैनिक भये सचेष्ट सकल भय भीति भगी है॥
परम धनुरधर काशिराज अरु बीर शिखण्डी।
धृष्टद्युम्न बीराट चढ़ी इन सिर रन चण्डी॥
सात्यकि सेना के अधिप, भूपति सम्बन्धी सगे।
दशहु दिशनि तैं शब्द सुनि, शंख बजावन सब लगे॥

शंखों की तुमुलध्वनि

[१२]

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुःशङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथ्वीं चैव तुमलो व्यनुनादयन् ॥*
(श्रीभग० गी० १ अ० १८,१९ श्लो०)

छप्पय

द्रुपद नृपति विख्यात द्रौपदीतनय बीरबर ।
महारथी सब पाँच समर विख्यात धनुरधर ॥
अरजुनसुत अभिमन्यु उतरानंदन नरवर ।
शंख बजावन लगे अधिक उत्साह सबनिउर ॥
पृथक् पृथक् सब शंख लै, पूरी शक्ति लगाइ कें ।
बीरनि उत्साहित करत, निज निज शंख बजाइकें ॥

शरीर में कँपी-कँपी अनुराग से, भय से तथा शीत आदि की बाधा से छूटती है, जिसे रोमाञ्च कहते हैं। प्राणि मात्र के शरीरों में भय, अनुराग और जीवन की इच्छा आरंभ से ही

---

*सूतजी कहते हैं—मुनियो ! राजा द्रुपद तथा द्रौपदी के पांचों पुत्र, सुभद्रानंदन महावीर अभिमन्यु इन सभी ने अपने पृथक् पृथक् शंख बजाये वह भयंकर शब्द कौरवों के हृदय को विदीर्ण करने लगा तथा पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त गूँज उठा ।

होती है। इसीलिये, भय से बचने को कर्म करने की प्रवृत्ति, प्यार करने की इच्छा तथा, आहार प्राप्त करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जैसे प्राणी आहार के बिना नहीं रह सकता वैसे ही प्यार के बिना भी नहीं रह सकता। मनुष्य को प्यार करने को मानव न मिलेगा तो पशुपक्षियों से प्यार करेगा, वे भी न मिलेंगे तो पेड़ पौधों से प्यार करेगा, उनके भी अभाव में ईंट पत्थर दिवालों से ही प्यार करेगा। एक राजकुमार ३० वर्ष तक एक कोठरी में कैद रहा। जब उसे वहाँ से निकलने को कहा गया तो उसने निकलना स्वीकार नहीं किया उसे दीवालों से प्रेम हो गया था।

सबसे अधिक प्यार तो प्राणी अपने आपसे करता है। अपने को वह नष्ट होने नहीं देता। जानमें अनजान में वह सदा अपने को बिना कष्ट के जीवित रखने का इच्छुक बना रहता है। कभी चींटी रेंगे हाथ वहीं पहुँच जायगा। इसी प्रकार अकस्मात् शब्द हो, सहसा कोई छू ले तो आदमी चौंक पड़ता है, उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अव्यक्त भय उसे सदा सर्वदा बना रहता है। प्यार में जो रोमांचित होते हैं, वे तो किसी को हृदय से लगाने को होते हैं, दो को एक करने के लिये होते हैं, किन्तु भय में जो रोंगटे खड़े होते हैं, वे आत्म रक्षा के निमित्त होते हैं। रोम चेतावनी देते हैं, इस भय से अपनी रक्षा करो। इस महायन्त्र शरीर में स्वाभाविक अपने आप काम करने वाले ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र लगे हैं, जो अव्यक्त घटनाओं की भी सूचना देते रहते हैं, किन्तु उन्हें विवेकी ही समझ सकते हैं। समर विजयी ही उनका सामना कर सकते हैं कृपण, क्षुद्र और भयभीत पुरुष तो काँप जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! शंखों का शब्द सुनकर सभी समर विजयी सैनिकों के हृदयों में उत्साह का संचार होने लगा, सभी की शिराओं में शीघ्रता से रक्त का संचार होने लगा। उनकी बोटी-बोटी फरकने लगीं, जो मुख्य मुख्य वीर थे, जिनके पास

अपना अपना शंख था वे पांडवों की शंखध्वनि में अपने शंखों की ध्वनि मिलाने लगे। सभी अपने अपने शंखों को पूरी शक्ति के साथ बजाने लगे। पांचों भाइयों तथा छटे नारायण की शंख ध्वनि सुनकर पांडवों के जो श्वसुर हैं, शिखंडी के जो जनक हैं, धष्टद्युम्न तथा द्रौपदी के जो पिता हैं,पांचाल देश के जो महाराज हैं, पांडवों के जो सगे, सम्बन्धी, सुहृद, रक्षक और त्राता हैं। वे अपना शंख बजाने लगे। अपने नाना को शंख बजाते देख, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन ये द्रौपदी के पांचों पुत्र अपने अपने शंखों को फूँकने लगे। सुभद्रानन्दवर्धन अभिमन्यु ने जब देखा मेरे पांचों भाई भी शंख बजा रहे हैं। सबको शंख बजाकर हर्ष प्रकट करना चाहिये, मैं तो पिछड़ ही गया, यह सोचकर वे अपना भी शंख बजाने लगे।

कौरवों की ओर से जो बाजे बजे थे, वे तो मधुर-मधुर संगीत युक्त विविध वीर रस के रागों में बजे थे। उनको सुनकर तो वीरों के हृदयों में अनुराग की लहरें उत्पन्न होती थी, वे बाजे बजाने वालों द्वारा बजाये गये वाद्य थे। वेतन भोगी भृत्यों द्वारा बजाये गये थे। उनमें अनुराग की छटा थी। किन्तु इन क्षत्रिय वीरों द्वारा अपने आप ही बजाये जाने वाले शंखों में शत्रु को संहार करने की चेतावनी थी। इनका शब्द रागयुक्त श्रुत मधुर तथा गुदगुदी पैदा करने वाला नहीं था। इन शंखों के शब्द भयंकर थे। शत्रुओं के हृदयों को हिला देने वाले थे, अरि दल में भयका संचार करने वाले थे। शत्रुओं को कँप कँपी छुड़ा देने वाले थे। पांडव पक्षीय वीर तो इन शब्दों को सुनकर उत्साहित हुए किन्तु कौरवों की तो दशा सोचनीय हो गयी। उनके हृदयों में तो शब्द नहीं घुसा मानों किसी ने शूल भौंक दिया हो। उनके छक्के छूट गये और वे थर-थर कांपने लगे।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! शंख की ध्वनि तो एक ही थी; यह पांडव पक्षीय वीरों के हृदयों को उत्साहित क्यों करने लगी और कौरव पक्ष वाले वीरों के हृदयों को क्यों चीरने लगी ?"

इस पर सूतजी बोले—महाराज ! धर्म और अधर्म में इतना ही अंतर है. जो बात धर्म प्रवृत्ति वाले पुरुषों को उत्साहित करती है, वही बात अधर्म प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों को भयभीत करती है। जैसे देखिये एकान्तवास ही है। धर्म प्रवृत्ति वाला होगा तो एकान्त में जाकर उसका हृदय शांत होगा। उसे वहाँ के दृश्य मनमोहक लगेंगे, प्रकृति स्तब्ध सी प्रतीत होगी। वहाँ के सन्-सन् के शब्द में उन्हें एक सुन्दर मनमोहक संगीत सा सुनायी देगा, उनका हृदय हर्ष से भर जायगा। वही एकान्त अधार्मिक दस्युओं को काटने दौड़ेगा। घोर डाकू भी तो घोर जगलों में एकान्त गुफाओं में जाकर छिपते हैं। उन्हें वहाँ पग-पग पर भय ही प्रतीत होता है। पत्तों की खड़खड़ाहट सुनते ही वे चौकन्ने हो जाते हैं। भयभीत होकर चारों ओर देखने लगते हैं, वहां का सन्नाटा उन्हें काटने को दौड़ता है। मन उद्विग्न हो जाता है, मन लगाने को चित्त को बहलाने को उन्हें सुरा तथा सुंदरियों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तु तो एक ही है, किन्तु धर्म भाव और अधर्म भाव-दो पृथक्-पृथक् भाव होने से दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया भी पृथक् पृथक् होती है। इसमें भावना ही प्रधान है।

देखिये एक षोडशी युवती है। अभी अभी उसका विवाह हुआ है। सखियों ने मन लगाकर उसका भली प्रकार शृंगार किया है। सोलह शृंगार करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर वह ससुराल जाने लगती है, वह रोते रोते अपने पिता से लिपट जाती है, कसकर उसकी कमरको पकड़ लेती है फूट फट कर रोती है। उस समय पिता का हृदय विदीर्ण हो जाता है। मुनियो ! पुत्री के बिदा होते समय कैसाभी वज्रहृदय पिता होगा उसका भी हृदय

द्रवित हो उठता है। उसी का जब पति आलिंगन करता है, उसका दूसरा भाव होता है, उसी को जब चाचो चाची कह कर बरके भतीजे लिपट जाते हैं, उनका दूसरा भाव होता है। वस्तु एक ही है। वस्त्र भूषणों में कोई अंतर नहीं, केवल भावना के ही कारण सभी पर उसका प्रभाव पृथक् पृथक् भाँति से पड़ता है। इसीलिये पांडव पक्षीय सेना के वीरों की शंखध्वनि ने पांडवों की सेना में तो वीरता तथा उत्साह का संचार किया और धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को चीर डाला।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! संजय इतना वर्णन करके अब प्रकृत विषय पर आते हैं, उन्हें गीता का वर्णन करना है, अतः अब गीता वक्ता और गीता श्रोता को मंचपर लाते हैं, अब कपिध्वज और पार्थसारथी हृषीकेशके सम्वाद का समारम्भ करते हैं, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

एक साथ सब शंख शब्द सुनि शत्रुनि सैनिक।
हिये कँपकँपी छुटी काज तजि दीये दैनिक॥
कौरव दल हिय चीरि शब्द तिनि माहिँ समानों।
मारयो अरिने वज्र हियेमें तकिकें मानो॥
पृथ्वी अरु आकाश में, घोष भयंकर भरि गयो।
शंख शब्द ई शस्त्र सम, काम शत्रु दल करि गयो॥

रथी द्वारा सारथी को आज्ञा

[१२]

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥*
(श्रीभ गी० १ अ० २०,२१ श्लो)

छप्पय

पंक्तिबद्ध अनुशासित देख्यो कौरव दलकूँ।
अरजुन हरषित भये करयो सुमिरन निज बलकूँ॥
शस्त्र चलन को समय निरखि निज धनुष उठायो।
कपिध्वज फहरे अरिनि घोर रव हियो हिलायो॥
देर नहीं कछु समर में, चलन चहत आयुध अबहिँ।
पार्थ सारथी के रथी, नटवर तैं बोले तबहिँ॥

संसार में उन पुरुषों के भाग्य की सराहना कौन कर सकता है, जिनको महापुरुषों ने अपना लिया है। अपना निजी जन मान लिया है। एक बड़े भारी विद्वान भक्त थे, किन्तु उन्हें किसी का

---

*संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—राजन्! कपिध्वज अर्जुन ने जब देखा कौरव वीर तो भली भाँति सुव्यवस्थित रूप से खड़े हैं, अब दोनों ओर से अस्त्र शस्त्र चलने ही वाले हैं, तब अपने धनुष को उठाकर वीरवर अर्जुन ने अपने सारथी श्रीकृष्णचन्द्र से कहा—हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में तो ले चलकर खड़ाकर दीजिये।

आश्रय प्राप्त नहीं हुआ था, वे किसी के द्वारा समाश्रित नहीं थे। कोई मुझे अपना ले। अपना कहकर पुकारे इसी भावना से वे छिपकर एक महात्मा की सेवा करने लगे। उनकी गौओं को ले जाते, दिन भर उन्हें चराते। एक दिन वे समय पर गौएँ लेकर नहीं आये। महात्मा चिंतित हुए, वे हाथ में डंडा लेकर अपने गोपाल को ढूँढ़ने चले। सब से पूछें किसी ने मेरा गोपाल देखा है। बार बार जब उन्होंने मेरा गोपाल मेरा गोपाल कहा, तो वे भक्त उनके चरणों पर गिर पड़े, अपना परिचय दिया।

महात्मा ने पूछा—तुमने बिना परिचय दिये, मुझे बिना नाम बताये, यह इतना छोटा काम क्यों किया ?

भक्त ने कहा—"भगवन् ! काम भी कोई छोटा होता है। आपने मुझे इसी कारण अपना लिया। अपना निज जन करके स्वीकार कर लिया मुझे अपना गोपाल मान लिया इसी सेवा के कारण तो, आज मैं धन्य हो गया कृतार्थ हो गया।"

वास्तव में महापुरुषों के अपनाने से जीवन में एक बड़ा भारी संबल मिल जाता है। असार निस्सार संसार मे एक सहारा मिल जाता है। यह तो संतों के अपनाने की बात है और जिसे साक्षात् परब्रह्म ने ही अपना लिया हो, अपना लिया ही न हो, जिसे अपना सुहृद, मित्र, संगी साथी बना लिया हो, सेवक बन कर जिसके रथ को सदा हाँकते हो, उसकी आज्ञा का पालन करते हों, ऐसे भाग्यशाली के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? पृथानंदन गांडीव धनुर्धारी कपिध्वज अर्जुन उन्हीं भाग्यशाली वीरों में से थे। "जाके रथ पे केशो, ताकूँ कौन अंदेशो।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! पांडवों की सेना तो पहिले से ही सुव्यवस्थित युद्ध के लिये खड़ी थी, अब जब दुर्योधन ने जाकर द्रोणाचार्य के सम्मुख चिन्ता व्यक्त की, तो पितामह भीष्म ने भी अपने सभी अधीनस्थ सेनापतियों को आज्ञा दे दी, कि हमारी

सेना व्यवस्थित रूप से खड़ी हो जाय। प्रधान सेनापति की आज्ञा का अविलम्ब पालन किया गया। कौरवों की सम्पूर्ण सेना सुव्यवस्थित होकर समर भूमि में खड़ी हो गयी।

युद्ध की प्रथम घोषणा शंख बजाकर हो गयी। द्वितीय घोषणा बड़ों की आज्ञा लेना और तीसरी घोषणा में बाण छोड़कर उनके चरणों में प्रणाम करते ही दोनों ओर से बाणवर्षा आरम्भ हो जायगी। गांडीवधारी अर्जुन ने जब मन ही मन श्यामसुन्दर को प्रणाम कर लिया, तो उसने धनुष उठाया और श्यामसुन्दर से कहा—वासुदेव! तनिक मेरे रथ को आगे बढ़ाकर और ले चलो।"

भगवान् ने पूछा—आगे किधर, क्या तुम किनारे पर रहना चाहते हो?"

अर्जुन ने कहा—नहीं, भगवन्! मैं किनारे रहना नहीं चाहता। युद्ध तो मैं बीच में ही करूगा, किन्तु आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ाकर दें।

भगवान् ने कहा—बहुत अच्छा, जैसी आज्ञा।

इस वाक्य को सुनकर रथी सारथी दोनों ही मुसकरा उठे। इस पर शौनकजी ने पूछा—सूतजी! हम अर्जुन के साहस की प्रशंसा करते हैं। रथी प्रायः अकेला नहीं चलता। बहुत से रक्षा करने वाले रथ उसके आगे, पीछे, दायें और बायें रक्षा करते हुए चलते हैं जिससे शत्रु इधर उधर से आक्रमण न कर दे। किन्तु युद्ध के आरम्भ में ही अर्जुन निर्भय होकर आज्ञा दे रहा है, मेरे अकेले रथ को दोनों सेनाओं के बीचाबीच ले जाकर खड़ा कर दो।"

सूतजी बोले—महाराज! शरणागति में यही तो विशेषता है। शरणागत निर्भय हो जाता है, भगवान् अपने भक्त का कभी पराभव नहीं होने देते। जो शरणागत है, जिसने धर्मरूप साक्षात् भगवान् का आश्रय ले रखा है, उसकी तो विजय निश्चित है।

ऐसे शरणापन्न सैनिक के समस्त साधन श्यामसुन्दर सुन्दरातिसुन्दर बना देते हैं। अब अर्जुन को ही देखिये। भगवान् ने इसके युद्धोपयोगी सभी साधन कैसे सुदृढ़ बना दिये थे। सैनिक के पास इतनी वस्तुयें चाहिये। (१) पहिले तो सैनिक बल और साहस चाहिये। (२) दूसरे उसका धनुष सुदृढ़ चाहिये, (३) तीसरे शस्त्रों के साथ उस पर दिव्य अस्त्र भी चाहिये। (४) चौथे उसके बाण अक्षय चाहिये जो कभी घटें नहीं। (५) पाँचवे उसका कवच सुदृढ़ चाहिये। जो कितने भी शस्त्रों के आघात हों टूटे नहीं। (६) उसका रथ सुदृढ़ हो, उसकी ध्वजा टूटने वाली तथा फटने वाली न हो। (७) सातवा उसका सारथी सुशिक्षित उत्साही और अपने में अनुराग रखने वाला हो, रथी की आज्ञा का तुरन्त पालन करने वाला हो। ये सात बातें जिसके पास हों उसकी विजय निश्चित है। अब अर्जुन की स्थिति पर विचार कीजिये।

(१) अर्जुन के बल साहस के सम्बन्ध में तो कहना नहीं क्या? जब दुर्योधन और ये दोनों ही श्री कृष्ण से सहायता माँगने गये, तो दुर्योधन तो मारे घमंड के सोते हुए श्यामसुन्दर के सिरहाने बैठ गया। पीछे से अर्जुन आया वह विनम्र होकर चरणों में बैठ गया। उठते ही श्यामसुन्दर ने पहिले अर्जुन को देखा। उसकी कुशल पूछी। तभी दुर्योधन ने कहा—देखिये मैं पहिले आया हूँ आपको मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा। भगवान् ने कहा—आप अवश्य पहिले आये होंगे, मैंने तो पहिले अर्जुन को देखा है। फिर भी मैं दोनों की सहायता करूँगा। एक ओर तो मेरी सम्पूर्ण नारायणी सेना। दूसरी ओर निहत्ता मैं। मैं रण में अस्त्र शस्त्र ग्रहण न करूँगा, लड़ूँगा नहीं। आप लोग दो में से एक एक ले लें। छोटा होने से अर्जुन पहिले माँगले। अर्जुन ने छूटते ही निहत्ते श्यामसुन्दर को माँगा। दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ, सेना पाकर उल्लास में भरकर चला गया। देखिये यह कितना

भारी साहस आत्म विश्वास और भगवत्ता पर आस्था है। ऐसा तो स्वयं रथी अर्जुन था।

(२) धनुष उसका गांडीव था, खांडवदाह के समय प्रसन्न होकर अग्निदेव ने अर्जुन के मांगने पर तीन उपयोगी वस्तुएँ उसे दी थीं। उनमें एक तो यह गांडीव नाम का दिव्य धनुष था। यह धनुष स्वयं ब्रह्माजी ने बनाया था, ब्रह्माजी ने उसे सोम को दिया। सोम ने वरुण को दिया और अग्निदेव ने वरुण से लेकर अर्जुन को दे दिया। ऐसा धनुष संसार में दूसरा नहीं था, यह न तो कभी टूटता फूटता था न सहस्रों धनुष मिलकर भी इसकी बराबरी नहीं कर सकते थे। (३) अस्त्र सभी लोकपालों ने अपने अपने प्रसन्न होकर अर्जुन को दे दिये थे। सशरीर स्वर्ग बुलाकर इन्द्रदेव ने अपने सभी दिव्यास्त्र अर्जुन को सिखा दिये थे। (४) दो अक्षय-तूणीर वरुण से मांगकर गांडीव धनुष के साथ अग्निदेव ने ही दिये थे। उनसे कितने भी बाण छोड़ते रहो वे कभी घटते नहीं थे। (५) अर्जुन का कवच भी दिव्य था, उसे कोई काट नहीं सकता था। (६) अर्जुन का अग्नि प्रदत्त कपिध्वज रथ तो विश्व विख्यात था। उसकी ध्वजा में कपि का चिह्न था, वह चिह्न ही नहीं था, स्वयं साक्षात हनुमानजी ही चिह्न रूप से उसमें बैठे रहते थे। युद्ध के समय अर्जुन की ध्वजा में बैठने का वरदान स्वयं हनुमान जी ने इन्हें दिया था।

शौनकजी ने पूछा—अर्जुन की ध्वजा में बैठने का वर बजरंग-बली ने कब दिया था और क्यों दिया था, इस कथा को कृपाकर हमें सुना दीजिये।

सूतजी ने कहा—महाराज, यह कथा तो बहुत बड़ी है, मैं इसे बहुत ही संक्षेप में सुनाता हूँ। द्रौपदी की इच्छा जानकर भीम सेन गंधमादन पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर की एक पुष्करिणी में कमल के फूल लेकर लौट रहे थे। यह वनवास के समय की बात

है, वहीं से स्वर्ग को मार्ग जाता था। वहीं पर हनुमानजी भी रहते थे। भीमसेन से मिलने उनका हित करने, उन्हें संकट से बचाने और अलभ्य वर देने हनुमान्जी उनका मार्ग रोककर रोगी का सा रूप बनाकर आँख बंद करके लेट गये।

उधर से भीमसेन ने आकर उन्हें डाँटते हुए कहा—अरे, बंदर मार्ग छोड़ दे मुझे आगे जाना है।

हनुमान्जी ने कहा—आगे जाना ठीक नहीं, इस मार्ग से सिद्ध ही जा सकते हैं। तुम साहस करोगे तो मर जाओगे।

भीमसेन ने कहा—मैं अपना हित स्वयं जानता हूँ, मुझे सम्मति नहीं चाहिये, तुम मुझे मार्ग दे दो।

हनुमान्जी ने कहा—भैया, तुम नहीं मानते हो, तो मुझे नाँघ कर चले जाओ। मैं बूढ़ा हूँ, रोगग्रस्त हूँ उठ नहीं सकता।

भीम ने कहा—जान बूझकर यथा शक्ति किसी को नाँघना नहीं चाहिये, सब में भगवान् रहते हैं। नहीं तो जैसे हनुमानजी समुद्र को लाँघकर लंका चले गये थे वैसे मैं भी तुम्हें लाँघकर चला जाता।"

हनुमान्जी ने पूछा—भैया, ये हनुमान कौन थे?

भीम ने कहा—"अरे, तुम महावीर हनुमान को भी नहीं जानते। वे पवन के पुत्र हैं, मेरे बड़े भाई हैं, श्रीरामजी का कार्य करने से उनके अत्यन्त प्रिय हैं। तुम व्यर्थ समय नष्ट न करो, नहीं मैं तुम्हें अभी यमसदन पहुँचा दूँगा। मेरा मार्ग छोड़ दो।

हनुमान्जी बोले—तुम्हें मुझ बूढ़े रोगी पर दया भी नहीं आती। अच्छा भैया! नहीं मानते हो, तो मेरी पूँछ उठाकर चले जाओ। मुझसे तो उठा नहीं जाता।" इतना सुनते ही भीमसेन ने अवज्ञा से बायें हाथ से पूँछ उठायी। पूरी शक्ति लगाने पर भी जब पूँछ हिली नहीं, तब भीम ने पूछा—देव! तुम वानर वेष में कौन हो।"

हनुमान्‌जी ने हँसकर कहा—मैं तुम्हारा सगाभाई पवन का पुत्र हनुमान् ही हूँ।"

हनुमान्‌जी का परिचय पाकर भीम गद्‌गद हो उठे। उन्होंने इनकी चरण वन्दना की और अपने लंका जाते समय के रूप को दिखाने की प्रार्थना की। भीम की प्रार्थना पर हनुमान्‌जी ने अपना यथार्थ रूप दिखाया। उसे देखते ही भीमसेन के रोंगटे खड़े हो गये। आगे वे देख न सके उन्होंने अपनी आँखें बंद करलीं और अपने रूप को समेटने की प्रार्थना की।

अपने यथार्थ रूप में आने पर भीम ने कहा—आप तो अकेले ही रावण को मारने में समर्थ थे, फिर इतनी सेना इकट्ठी करके रामजी लंका क्यों गये।"

हनुमान्‌जी ने कहा—भैया, तुम ठीक कहते हो, मैं उस पापी अधम को मार सकता था, किन्तु इससे श्रीराम की कीर्ति तो न फैलती। राम कथा तो संसार में विख्यात न होती।" इतना कह कर हनुमान्‌जी ने अपने भाई भीम को कसकर छाती से लगा लिया। वे प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे। भीम आज मैं तुम्हारा आलिंगन करके कृतार्थ हो गया। अपने प्रिय का आलिंगन कितना सुखद है। भैया! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ। जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तुम्हें इतने क्लेश दिये हैं, उन्हें कहो तो मैं अभी मारकर चला आऊँ। तुम्हारी इच्छा हो तो मैं अभी हस्तिनापुर पर ऐसी पत्थरों की शिलाओं की वर्षा कर आऊँ कि वे सब के सब सपरिवार मर जायँ।"

इतना सुनते ही भीमसेन स्नेह के कारण रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने कहा—हे वानर राज! आपका हमारे प्रति इतना स्नेह है, हम तो इसी में कृतार्थ हो गये। हे पूजनीय! आपका आशीर्वाद बना रहे, हम आपकी अनुकंपा से शत्रुओं को जीत लेंगे। देव! आपके सौहार्द्र स्नेह से हम अनाथ बने हुए वन में भटकते हुए

भी आज सनाथ हो गये। आप आशीर्वाद दें हम विजयी बनें।'

यह सुनकर भातृस्नेह से जिनका हृदय भर आया था, जिनकी वाणी अनुराग से गद्‌गद हो गयी थी, जिनके नेत्रों से प्रेमाश्रु निकल रहे थे वे हनुमान्‌जी बोले—युद्ध के समय मैं तुम्हारे सिंहनाद में नाद मिलाऊँगा और अर्जुन की वानर ध्वजा में सदा रहकर सिंहनाद करूँगा। अर्जुन की सदा रक्षा करता रहूँगा, शत्रुओं को भयभीत करता रहूँगा।'

कपि की ध्वजा में सदा हनुमान् के विराजने से अर्जुन 'कपिध्वज' कहलाये। उनका जैसा ही अग्नि प्रदत्त धनुष अजेय था, वैसी ही उसकी कपि की ध्वजा अजेय थी। अतः उनकी ध्वजा अनुपम थी।

अब सातवीं बात है सारथी की। सो जब साक्षात श्याम सुन्दर ही जिसके रथ को हाँक रहे हो उस रथी को भय किसका। श्यामसुन्दर का अर्जुन के प्रति कितना स्नेह था, यह बात एक ही घटना से जानी जा सकती है। जब इन्द्रने श्रीकृष्ण से वर मांगने को कहा—तब भगवान् ने यही माँगा—"मेरी और अर्जुन के मैत्री सदा बढ़ती रही रहे, अर्जुन से मेरी कभी भी अनबन न हो।' शौनकजी! उन श्यामसुन्दर को मैत्री की क्या आवश्यकता थी, वे तो प्राणीमात्र के सहज सुहृद् हैं, किन्तु मैत्री का महत्त्व बताने को उन्होंने ऐसी लीला रची। मित्र को अपने मित्र से सदा डरते रहना चाहिये, कि किसी भी कारण से हमारी मित्रता में व्याघात न पड़े। जिसके रक्षक, सारथी श्यामसुन्दर हैं उसे किसका भय इसीलिये अर्जुन अपने सारथी से कभी भी च्युत न होने वाले अच्युत से प्रार्थना कर रहा है अनुनय कर रहा है, आज्ञा दे रहा है—'मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले-चलिये। दोनों अनियों के बीचाबीच जाकर खड़ा कीजिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! सारथी को आज्ञा देते समय रथी जो अपना अभिप्राय बतावेगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

मेरे रथकूँ प्रभो! तनिक सो और बढ़ाओ।
भयो जुद्ध को समय नैक नहिँ देर लगाओ॥
साजि सकल रन साज कौरवनि सेना भारी।
हमारी सेना खड़ी करैं सब समर तयारी॥
उभय दलनि के बीच में, मेरो रथ ठाढ़ो करो।
कैवर्तक केशव समर-सागरकूँ रथतैं तरो॥

नटवर ! निरीक्षण करूँगा !

[१४]

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्य मस्मिन् रणसमुद्यमे ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥*

(श्री भ गी० १ अ० २२,२३)

छप्पय

दोऊ दल के बीच सबहि जोधनि देखूँगो ।
कौन कौन तें लड़ँ जाय नियरे निरखुँगो ॥
युद्ध मत्त मदमत्त सैनकनि साहस लखिकें ।
को को रन में लड़ैं कौन जावेंगे भगिकें ॥
देखुँगो तब तक विभो, जब तक मम मन भरैगो ।
रन रूपी ब्योपार में, मोतें को को भिड़ैगो ॥

संसार युद्ध भूमि है, इसमें सब एक दूसरे से लड़ रहे हैं कोई प्रेम से लड़ रहा है, कोई द्वेष से लड़ रहा है । कोई राग

---

* अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—"भगवन् ! जब तक मैं युद्ध की कामना से अवस्थित इन कौरव पक्षीय वीरों को देखूँ कि इस रण उद्यम में किस किस के साथ मुझे युद्ध करना है । (तब तक आप रथ को खड़ा रखें) जो नृपतिगण युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय करने के निमित्त यहाँ आये हैं, उन लड़ने वालों को मैं देखूँ तो सही ।

पूर्वक लड़ रहा है कोई विराग पूर्वक लड़ रहा है। संसार द्वन्द्व पर अवलंबित है। दो जहाँ मिलेंगे वहाँ व्यापार होगा, वह व्यापार ही युद्ध है। मल्लों का ही युद्ध नहीं होता कलाकार कलाकार से लड़ता है, विद्यार्थी विद्यार्थी से लड़ता है, पति पत्नी की लड़ाई भाई भाई की लड़ाई। लड़ाई से पहिले प्रतिद्वन्दी को देखने की सभी को उत्सुकता रहती है। कक्षा में नये छात्र आते हैं, तो पुराने उन्हें उत्सुकता से देखते हैं। अपना कोई नया अधिकारी बदल कर आता है, तो उसके अधीनस्थ उस नये अधिकारी को उत्सुकता से देखते हैं। जब सगाई होती है तो वर वधू दोनों ही अपनी भावी पत्नी भावी पति को देखने के लिये लालायित रहते हैं, इसी प्रकार युद्ध में हमें किस योधा के साथ लड़ना है। इसकी उत्सुकता दोनों पक्षों के वीरों में रहती है। जो आँख मींचकर लड़ते हैं। किसी के भी लगे हमें अस्त्र चलाने हैं। ऐसे लोगों को कम जिज्ञासा होती है, किन्तु जो नामी वीर हैं। अपने को प्रधान शूर वीर समझते हैं, वे बहुत लालायित रहते हैं देखें हमारे सामने कौन आता है, इस दृष्टि से अर्जुन की उत्सुकता स्वाभाविक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने भगवान् से दोनों सेनाओं के बीच में रथ ले चलने को कहा,तो भगवान् ने पूछा—अर्जुन! लड़ना तो तुम्हें पांडवों की ओर से है दोनों सेनाओं के बीच में क्या करोगे?

अर्जुन ने कहा—महाराज! युद्ध के लिये आये राजाओं को देखूँगा।

हँसकर भगवान् ने कहा—राजाओं को क्या देखोगे भाई! राजा तो तुम्हारे सब देखे देखाये ही हैं। धर्मराज के राजसूय के समय सभी राजा आये थे, द्रौपदी के स्वयंवर में भी सभी राजा थे, दिग्विजय में भी प्रायः सभी राजाओं से भेंट हो चुकी

है, अब उन्हें क्या देखोगे, वे ही सब राजा हैं।

अर्जुन ने कहा—यह तो ठीक है, महाराज ! कि राजा सब वे ही हैं, किन्तु द्रौपदी के स्वयंवर में 'राजसूय यज्ञ में, दिग्विजय के समय तो सभी राजा समान रूप से थे। अब तो राजाओं के दो विभाग हो गये हैं, एक तो वे जो न्याय तथा धर्म पक्ष समझकर धर्मराज की ओर से लड़ने आये हैं। दूसरे वे जो दुर्बुद्धि दुर्योधन की ओर से लड़ने आये हैं। संसार में यह बात किससे छिपी है, कि दुर्योधन ने मेरे बड़े भाई भीमसेन को विष के लड्डू खिलाकर मारने की चेष्टा की कौन, नहीं जानता इन्होंने लाक्षागृह में हमें जला डालने की पूरी चेष्टा की। द्रौपदी का अपमान तो भरी सभा में किया गया, उसे विवस्त्रा बनाने का प्रयत्न तो इन धूर्तों ने शक्ति भर किया। हमारे साथ जूए में जो अन्याय हुआ संसार का कौन सा राजा नहीं जानता। हम १२ वर्ष का वनवास एक वर्ष का अज्ञात वास करके अपनी प्रतिज्ञा को धर्म पूर्वक पूरा करके लौटे तब इसे न्याय पूर्वक हमारा राज्य लौटा देना चाहिये था, किन्तु इस दुर्बुद्धि ने हमें धर्मराज के पांच ग्राम माँगने पर स्पष्ट कह दिया, मैं सूची के अग्रभाग से जितनी नोंक पृथिवी में होती हो, उतनी भी भूमि न दूँगा। उसी पापात्मा की ओर से कौन कौन राजा आये हैं, इन्हें देखूँ तो सही अपनी सेना के सब लोगों को तो मैं जानता ही हूँ, उनकी सेना में घुस कर देखूँ तो लोग संभव है प्रहार न कर बैठे, या कुछ लोग यह न समझ बैठे कि अर्जुन भयभीत होकर कौरवों की शरण में आ गया। अतः आप दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा कर दें, जिससे मैं सबको भली भाँति देख सकूँ।

भगवान् ने कहा—भाई, कोई मर्यादा भी हो, कब तक तुम्हारे रथ को वहाँ खड़ा रखूँ !

अर्जुन ने कहा—"भगवन्! मैं जब तक भली प्रकार सब को जान न लूँ, पहिचान न लूँ, तब तक आप रथ को खड़ा रखें। भगवान् ने कहा—जान पहिचान कर करोगे क्या?

अर्जुन बोले—महाराज! देखूँगा। मेरे साथ लड़ने को कौन कौन उद्यत हैं, कौन कितने पानी में हैं। प्रभो! सब कार्य पहिले से किया जाता है, समर तो एक व्यापार है, व्यापार भी जूआ के समान जो क्षणभर में लखपती हो जाओ क्षणभर में लखपती से कंगाल बन जाओ। हे अच्युत! दो पैसे की हांडी भी ली जाती है, तो बहुत ठोक पीटकर, बार बार बजाकर तब ली जाती है। फिर जिनसे प्राणों का पण लगाकर युद्ध करना है उसे बिना देखे हम कैसे लड़ सकते हैं। अतः पहिले हम युद्ध पिपासु अधर्मी के पक्षपाती राजाओं को एक दृष्टि से देख तो लें। देखकर तब इन्हें बताऊँगा कि अधर्मी का पक्ष लेने का परिणाम क्या होता है।

भगवान् ने कहा—भाई! युद्ध में ही देख लेना।

अर्जुन ने कहा—अजी, महाराज! पहिले से देख भालकर विचार कर ले किससे कैसे लड़ना पड़ेगा। बिना पहिले से विचारे युद्ध करना ठीक नहीं।

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारैं आपनो, जगमें होत हँसाय॥

सो प्रभो! हँसावक्यों करना। राजा सब यहाँ आये ही हुए हैं और सब तमासा देखनेकी दृष्टि से भी नहीं आये, सभी युद्ध करने के ही संकल्प से आये हैं। ये सब दुर्योधन का प्रिय करने को आये हैं। उसे प्रसन्न करना चाहते हैं। उन्हें ज्ञात नहीं कि न रोग ही रहेगा न रोगी ही बचेगा। दोनों ही समाप्त हो जायँगे मेरी बाण रूपी औषधि से। आपको आपत्ति क्या है, तनिक बढ़ाकर ले चलो न बीच में रथ को।

उभय सेना के मध्य में गुडाकेश का रथ

(१५)

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥*

(श्रीभ० गी० १ अ० २४, २५ श्लोक)

छप्पय

संजय बोले—भारत ! सुनिके अरजुन बानी ।
दीये अश्व चलाय सारथी सारँगपानी ॥
उभय सैन के मध्य लाइ रथ ठाढ़ौ कीन्हों ।
हँसि के बोले श्याम—सबहिँ भूपनिकूँ चीन्हों ॥
रथ रव घर घर करि चल्यो, चकित सकल सैनिक रहे ।
खड़ो करयो रथ विहँसिकें, वचन श्याम ने पुनि कहे ॥

---

*संजय कह रहे हैं--राजन् ! अर्जुनद्वाराऐसा कहे जाने पर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने गुडाकेशअर्जुनके रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया । भीष्म और द्रोण के सम्मुख तथा समस्त राजाओं के सम्मुख रथ खड़ा करके बोले—पार्थ ! देख लो, ये ही सबराजागण युद्ध करने को डटे हैं । भली प्रकार देख लो ।

जीव तो जीव ही है, नटनागर स्वयं ही प्रेरणा करके उसके हृदय में ज्ञान-दीप जगा देते हैं और फिर स्वयं ही उसे ज्ञान देकर, अपना दर्शन देकर-कृतार्थ करते हैं। वे ही प्रश्न करने की बुद्धि देते हैं, फिर वे ही स्वयं उत्तर देकर उसे निःसंशय कर देते हैं। कैसी क्रीड़ा है जनार्दन की! जीव इस रहस्य को समझ नहीं सकता। इसीलिये तो माया मोह में पड़ा इधर से उधर भटक रहा है, माया मोह में पड़ा चिन्ता के सागर में मग्न हो रहा है। स्वयं ही इसके अज्ञान को दूर करना चाहें, स्वयं ही हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न करके गीता ज्ञान सुनाना चाहें तभी यह चौरासी के चक्कर में पड़ा प्राणी पार हो सकता है। जिसे वे अपना कह कर वरण करलें उसी के द्वारा वे प्राप्त किये जा सकते हैं, अन्य के द्वारा नहीं। बीज को उभाड़कर उसमें फल लगा देते हैं पका कर उसे गिरा देते हैं। यही उनका सनातन व्यापार है। यही उनका मनोरंजन है। इसी के द्वारा वे क्रीड़ा कर रहे हैं, आत्म रतिका सुख भोग रहे हैं। जो इस रहस्य को जान जाता है उसे मोह नहीं होता। जिसे इसका पता नहीं वही मोहित हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब संजय महाराज धृतराष्ट्र से कहने लगे। अर्थात् अब पुनः सञ्जय बोले।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी! सब संजय ही तो कह रहे हैं, फिर सञ्जय बोले यह क्यों कहा?

सूतजी बोले—महाराज! सब कुछ संजय तो पूरा संवाद धृतराष्ट्र को सुना ही रहे हैं, फिर भी स्मरण कराने को कि यह संजय और धृतराष्ट्र का संवाद है। घर में बैठे-बैठे धृतराष्ट्र से संजय कह रहे हैं। यहाँ स्मरण दिलाने का तात्पर्य यह है, कि एक श्लोक में तो धृतराष्ट्र का प्रश्न ही है। १२ श्लोकों में पहिले

धृतराष्ट्र के पुत्रों का व र्णन है, क्योंकि धृतराष्ट्र बड़े हैं, पांडु छोटे
हैं। उसी क्रम से मेरे पां डु के पुत्रों ने क्या किया, यह बात पूछी
थी। इसलिये १२श्लोकों में कौरवों कावर्णनकिया। पांडु उनसे छोटे
थे, अतः पांडवों के सम्ब न्ध का वर्णन १० ही श्लोकों में किया।
तब संजय ने सोचा कौर व और पांडवों का तो छोटे बड़े के क्रम से
वर्णन हो चुका। अब ब ीचों बीच का वर्णन करूँ। अर्थात् अब
दोनों सेना के जो मध्यस्थ थ हैं, केवल जिनको काल स्वरूप भगवान
को ही मारने का-प्राण हे ने का अधिकार है, अब मैं उन्हीं का
वर्णन करूँ। अब तक मैंने कौरव पांडवों की सेनाओं का वर्णन
किया, अब जो इन दोनों सेनाओं को अपने संकेतपर नचा रहे हैं,
किसी को बचा रहे हैं, किसी को यम सदन पठा रहे हैं, और जो
सारथी बने हुए अर्जुन के रथ को चला रहे है, उन नटनागर
ने क्या किया। सारथी को रथीने कैसे आज्ञा दी, कहाँ चलने व
प्रेरणा की, फिर उन्होंने किधर रथ चलाया। रथी और सारथ
में क्या कथोपकथन हु आ, इसे अब सुनाता हूँ। अर्थात् अ
अपने मुख्य विषय पर आ ता हूँ। आप भरतवंशावतंस हैं। राज
भरत कितने प्रतापी और परोपकारी हुए। वे दूसरे के पुत्र को
ले आये और उसे अपना पुत्र करके माना। तुम अपने पुत्रों को
भाई के पुत्रों से लड़ा रहे हो। हे भरतकुलकमलदिवाकर! अब
भी चेत जाओ, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, अभी बेटी बाप की ही
है। अभी युद्ध आरंभ हुआ नहीं है। आरंभ होने का उपक्रम हो
रहा है। आप अब भी रोकना चाहें तो युद्ध को रोक सकते हैं
पांडवों को उनका आधा पैतृक राज देकर।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने अपने सारथी
से विपक्षी राजाओं को देखने की इच्छा की, और अपने रथ को
दोनों सेनाओं के बीच में ले चलने को कहा, तब हृषीकेश भगवान

ने दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर उसके रथ को खड़ा कर दिया।

जब आदमी निश्चिन्त रहता है और कुछ थकावट सी रहती है, मधुर मधुर बाजे सुनने को मिलते है, तो तनिक झपकी सी आ जाती है। जिसे किसी का दृढ़ भरोसा होता है, कि मेरे सिर ये बैठे हैं तो वह निश्चिन्त होकर—शोक मोह त्यागकर—पैर पसार कर सो जाता है। अर्जुन में ये दोनों ही बात नहीं, न तो वह निश्चिन्त ही है और न उसे नींद ही आ रही है। निद्रा पर उसने विजय:कर ली है, चिंता उसके चित में चितचोर के रहते हुए भी चिपटी हुई है। उसी चिंता को चुराने के लिये चितचोर ने चट से चला दिया रथ को और उसे बीच में भीष्म द्रोण के सम्मुख तथा सभी राजाओं के बीच में खड़ा कर दिया। भीष्म के सम्मुख इसलिये खड़ा कर दिया कि वे सेनापति हैं, सर्व प्रथम तो इन्हें ही मारना है। द्रोण उनके पार्श्व में खड़े थे, बता दिया दूसरे इन्हें मारना है। इन दो सिंहों के मार देने पर समर-वन साफ हो जायगा, फिर ये सम्मुख खड़े हुए राजा रूपी गीदड़ शेष रह जायँगे। कर्ण वहाँ था नहीं, वह अपने शिविर में सो रहा था। जब तक भीष्मपितामह जीवित हैं, तब तक युद्ध न करने की उसने प्रतिज्ञा कर ली है,अतः प्रमुख वीरों में वह दिखायी नहीं देया। भीष्म और द्रोण ये ही दो बड़ी बड़ी चट्टानें हैं। और सब तो फिर घास फूस हैं। लड़ना तो इन दो से ही है, और भी राजाओं को देख लो, सबको पहिचान लो, सब से नमस्कार प्रणाम कर लो, किन्तु लक्ष इन दो को ही बनाओ। यही तात्पर्य इन दोनों के ठीक सम्मुख रथ खड़ा करने का है।

रथ भी साधारण नहीं था, सारथी भी साधारण सारथी नहीं था। दोनों असाधारण थे। भगवान् का अभिप्राय यही है जैसे

तेरा रथ उत्तम है, मैं सारथी उत्तम हूँ वैसे ही है इस उत्तम रथ के रथी ! तू भी उत्तम ही बन जा। कुछ शोक मोह ममता, चिंता तेरे में हो तो उसे त्याग दे।

रथ को खड़ा करके भगवान् बोले—हे पार्थ ! इन विपक्षी कुरुवंशियों को देखो। अभिप्राय इतना ही है, कि तुम अपने को भी देखो और इन कौरवों को भी देखो। अपने को तो यह देखो, कि जब मैं सन्धि कराने के निमित्त दुर्योधन के यहाँ हस्तिनापुर गया था और बहुत समझाने बुझाने पर भी दुर्योधन राज्य देने को तैयार नहीं हुआ तो मैं अपनी बूआ पृथा के समीप उनके दर्शनों को गया था। उनसे मैंने पूछा—बूआजी ! अपने पुत्रों के लिये कुछ संदेश भिजवाना है ?

तो छूटते ही उन्होंने कहा था—मेरे पुत्रों से श्यामसुन्दर कह देना—"यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत !" क्षत्राणी जिस लिये पुत्रों को पैदा करती हैं, अर्थात् युद्ध करने के लिये अब वही समय आ गया है।" सो बूआ पृथा ने जब कहा था, उस समय वह काल कुछ दूर था, अब तो सर्वथा समीप आ गया है। अपनी माता कुन्ती के तुम प्यारे पुत्र हो। पृथा के पुत्र होने से ही तुम पार्थ कहाते हो। तुम्हारी माता मेरी सगी बूआ हैं। मैं तुम्हारा ममेरा भाई हूँ। अपनी माता के उन बचनों को अब सार्थक करो। पृथा के दूध को कृतार्थ करो। स्त्रियों के समान रोना धोना नहीं, अबलापन मत दिखाना। तुम वीर क्षत्राणी पृथाके प्यारे पुत्र हो। हे पार्थ ! इन युद्ध की इच्छा से आये हुए कौरवों को देखो।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी ! अर्जुन ने तो युद्ध की कामना से आये हुए राजाओं को देखने की इच्छा की थी, फिर भगवान केवल कौरवों को ही देखने के लिये क्यों कह रहे हैं ?

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! राजा के साथ तो मंत्री सचिव, गाने नाचने वाले, बजाने वाले, सेना वाले, सेवक तथा अंग रक्षक सभी रहते हैं, किन्तु कहा जाता है, देखो राजा जा रहा है। क्योंकि राजा की ही उसमें प्रधानता है। विवाह करके घर में बहू आती है, उसकेसाथदास,दासी बराती,बजाने वाले सभी होते हैं, कहते यही हैं चलो बहू को देख आवें। क्योंकि उसी के पीछे सब हैं। उसे देखने जाने पर और सब तो आप ही दिखायी दे जायँगे। इसी तरह भगवान् कहते हैं तू पहिले अपने भाई कौरवों को ही देख ले। इन्हीं के बुलाने पर इन्हीं का प्रिय करने के निमित्त ये इतने अधिक राजा एकत्रित हुए हैं।"

कौरवों को देखने का दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है, कि तैंने पूछा था, कि मेरे साथ कौन कौन लड़ेगा ? सो लड़ने वाले कोई दूसरे नहीं। तू भी कुरुकुल का है, भीष्म पितामह भी कुरु कुल के हैं और धृतराष्ट्र के ये दुर्योधनादि सौ पुत्र भी कुरुकुल के ही हैं। इनके सम्बन्धी तुम्हारे सम्बन्धी हैं तुम्हारे सम्बन्धी इनके सम्बन्धी हैं। कोई भाई हैं, कोई भतीजे हैं, कोई भानजे हैं। तुम्हें भाइयों से ही लड़ना पड़ेगा। अपने कुल गोत्रियों, बन्धु बान्धवों से ही युद्ध करना पड़ेगा। सोचसमझ लो,आखें खोलकर भली-भाँति देख लो। ये अन्य नहीं कौरवही हैं कौरव। तुम दोनों के बाबा एक हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों के स्वामी, अन्तर्यामी पार्थसारथी नामी भगवान् हृषीकेश श्यामसुन्दर के कहने पर निद्रा आलस्य रहित सदा सर्वदा समर के लिये संनद्ध अर्जुन, सम्मुख खड़े हुए युद्ध की इच्छा से आये हुए वीरों को आँख फाड़-फाड़कर देखने लगा। अब आगे उसने किस किसको देखा इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

देखो, ये सब भूप युद्ध के ही हित आये।
दुरजोधन ने साम दान तैं इननि बुलाये॥
देखो, ये हैं भीष्म खड़ो रथ सम्मुख इनके।
ये हैं द्रोणाचार्य बगल में ठाड़े तिनके॥
इन सब भूपनि के निकट, रथ तुमरो अनुपम खड़ो।
निज कुल के कौरव कुपित सम्बन्धिनितैं तुम भिड़ो॥

अर्जुन द्वारा सैन्यावलोकन

(१६)

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान् सखींस्तथा ॥*
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥

(श्री भ० गी० १ अ० २६,२७ श्लो०)

छप्पय

पृथापुत्र पुनि लखे युद्धहित कुपित भूपगन ।
कोई ताऊ चचा पितामह आचारज जन ॥
मामा हैं कछु सगे कछू अपने ही भाई ।
कछू पुत्र अरुपौत्र आयु जिनि संग बिताई ॥
लड़त भिड़त सबई रहत, नहीं पराये शत्रु हैं ।
सम्बन्धी सब सुहृदगन, निजजन गुरुजन मित्र हैं ॥

संस्कृत की एक कहावत है "स्नेहानुबन्धो बन्धूनांमुनेरपि

---

*संजय कह रहे हैं—हे राजन् ! वहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में खड़े हुए लोगों को देखा। कोई चाचा हैं, कोई बाबा हैं, कोई आचार्य, मामा, भाई भानजे, पुत्र तथा पौत्र हैं, कोई श्वसुर हैं कोई सगे सम्बन्धी हैं, उन सम्पूर्ण उपस्थित बन्धु बान्धवों को युद्ध के लिये खड़े देखकर कुन्ती नन्दन चकित रह गये ।

सुदुस्त्यज" अर्थात् अपने परिवार वाले भाई बन्धुओं में जो अनुबन्ध है खिंचाव है, ममता है उसे छोड़ना त्यागी विरागी मुनियों के लिये भी कठिन है। अपने ही परिवार के लोग जब हमारा अपकार करते हैं, तो हमें उन पर क्रोध आता है, पीठ पीछे हम उनकी भरपेट बुराई करते हैं, उन्हें भला बुरा कहते हैं, किन्तु जब वे हमारे सम्मुख आते हैं, हमारी उनकी चार आँखें होती हैं, तो रक्त की ममता हमारे हृदय में उमड़ पड़ती है। सोचते हैं, कैसे भी सही हैं तो ये हमारे भाई बन्धु, सगे सम्बन्धी ही। कोई वज्र हृदय का ही पुरुष होगा, उसे ही ममता न आवेगी, नहीं तो कुटुम्बियों के प्रति मोह होना मानव स्वभाव है।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! जब भगवान् ने अर्जुन से कहा—देख युद्ध की इच्छा से ये अस्त्र शस्त्र लिये कौरव खड़े हैं, इन्हें देख ले।" तब तो अर्जुन के हृदय में एक चोट सी लगी। कौरव तो मैं भी हूँ कुरुवंश में तो मेरा भी जन्म हुआ है। ये भी कौरव मैं भी कौरव,क्या कौरव कौरव से लड़ेगा ? क्या भाई-भाई से लड़ेगा ? क्या अपने सगे सम्बन्धियों से ही युद्ध करना पड़ेगा ?"

अब तक तो अर्जुन के मस्तिष्क में दो ही थे एक पक्ष वाले और दूसरे विपक्ष वाले। एक निज पक्ष के दूसरे शत्रु पक्ष के। आदमी जब ऊपर से देखता है, तो सभी पुरुष एक से चींटी की भाँति रेंगते हुए दिखायी देते हैं। ज्यों ज्यों वह नीचे उतरता आता है वह भेदभाव करने लगता है। यह स्त्री है, यह पुरुष है,और नीचे उतरता है तो देखता है यह सहधर्मी है, यह विधर्मी है, और नीचे आता है, तो देखता है, ये अपने परिचित हैं, ये अपरिचित हैं। सर्वथा नीचे आने पर सब परिचितों का नाम लेकर अपना सम्बन्ध जताकर सम्बोधन करता है। सम्बन्ध मुख देखे के होते हैं। बच्चा पेट में रहता है कोई सम्बन्ध नहीं लगाता। जहाँ वह उदर से बाहर हुआ, मुख देखा तो माता पिता

उसे पुत्र कहने लगते हैं। पिता के भाई भतीजा, माँ के भाई भानजा, पिता के भी पिता पौत्र तथा सभी सम्बन्धी अपना-अपना नाता लगाने लगते हैं। मर जाने पर सब उसे शव या मिट्टी कहने लगते हैं शीघ्र से शीघ्र घर से बाहर करने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। इसी का नाम मोहममता है। यह मोहममता प्राणी के जन्म के साथ उत्पन्न होती है मरने तक बनी रहती है। जिसका मोहक्षय हो गया, उसकी मोक्ष ही हो गयी आवागमन से छूट गया।

अब तक तो अर्जुन सुनते ही रहे थे, कौरव हमारे शत्रु हैं, बहुत से राजा उसकी ओर से हम से लड़ने आये हैं। वह क्रोध और वीरता में भरकर कह देता था—"अच्छी बात है। आने दो, अन्यायियों को, हम सबको देख लेंगे। सबके दाँत खट्टे कर देंगे, सबको दिखा देंगे, कि न्याय की विजय होती है, या अन्याय की। किन्तु जब उसने समीप से आकर देखा, तो उसे पुराने सम्बन्ध स्मरण हो आये। सम्मुख उसने भी भीष्मपितामह के समीप सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा को देखा—अरे, ये तो मेरे ताऊजी हैं। मैं इनका कितना आदर करता था देखते ही इनके चरण स्पर्श करता था, आज ये अस्त्र-शस्त्र लिये हमसे लड़ने के लिये खड़े हैं। सम्मुख पितामह भीष्म सेनापति का चिह्न लगाये हमारी सेना का संहार करने को समुपस्थित हैं। ये तो हमारे पिता के भी पिता हैं। जब हम अबोध छोटे छोटे बच्चे थे, तो धूरि धूसरित शरीर से इनकी गोदी में जा बैठे थे, और इनसे "पिताजी पिताजी" अपनी तोतली वाणी में कहा करते थे, तब ये हमारे मुख को बार बार चूसते और कहते-बेटाओं! मैं तुम्हारा पिता नहीं। तुम्हारे पिता का पिता हूँ। मुझसे 'पितामह' कहा करो। तभी से हम इन्हें 'पितामह पितामह' कहा करते थे, हमने अपने पिता को तो भली भाँति देखा नहीं। हमारा पालन पोषण इन्होंने ही किया। अतः हमारे

पिता, पितामह, रक्षक माता तथा सर्वस्व ये ही हैं। आज ये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर हमें मारने को खड़े हैं। इनके पार्श्व में हमारे दूसरे बाबा सोमदत्तजी भी खड़े हैं। ये मुझे कितना प्यार करते थे। जब मैं इनके चरण छूता तो कितनी देर मेरी पीठ को थपथपाते और कहते—बेटा! अर्जुन मैं तेरी वीरता से बड़ा प्रसन्न हूँ। भगवान् करे तू विश्वविख्यात वीरवर हो। तब मैं लज्जा से सिर नीचा कर लेता। और भी कई वृद्ध हैं। जिन्हें हम बाबा ही कहा करते हैं।

सम्मुख ये हमारे गुरुदेव हमारे पूज्य आचार्य भगवान् द्रोणाचार्य खड़े हैं। इनका अपने सभी शिष्यों पर समान स्नेह है, किन्तु मेरे साथ तो ये घोर पक्षपात करते थे, मुझे तो ये अश्वत्थामा से भी बढ़कर प्यार करते थे। इन्हीं की कृपा से तो हम धनुर्वेद में पारंगत हुए। इनकी ही अनुकम्पा से तो हम विश्वविजयी वीर विख्यात हुए। इनका मेरे ऊपर कितना वात्सल्य स्नेह रहा है। आज ये भी हमसे लड़ने को तत्पर हैं। इनके साले हमारे कुलगुरु ये कृपाचार्य भी आज वीरवेष बनाये विपक्ष में खड़े हैं। हमसे लड़ने को कमर कसे हैं। यद्यपि ये अश्वत्थामा हमारे सुहृद सखा हैं, फिर भी गुरुपुत्र होने के नाते हमारे गुरु ही हैं, आचार्य हैं। बड़ा गुरु भाई आचार्य के ही समान माना जाता है। ये तीनों आचार्य आज हमसे पराङ्मुख हो गये हैं। हाय! विधि की कैसी विडम्बना है, जिन आचार्यों की हमें पूजा करनी चाहिये थी, जो ब्राह्मण सदा से अवध्य बताये जाते रहे हैं, हम उनके ऊपर बाण छोड़ेंगे। उनके शरीर को रक्तरंजित करेंगे।

ये हमारे मामाजी शकुनि खड़े हैं, यद्यपि ये हमारे छोटे भाइयों-नकुल सहदेव के सगे मामा हैं, किन्तु इन्होंने कभी भी हम पाँचों में भेद भाव नहीं किया। ये समान रूप से हम पाँचों को ही अपने सगे भानजे मानते रहे। हम भी इन्हें पहिले अपना

सगा ही मामा समझते थे। जब वसुदेवजी आये तब पता चला ये हमारी दूसरी माता के भाई हैं। ये जब आते हम दौड़कर माताजी के पास जाते शीघ्रता से कहते—अम्मा! अम्मा! मामाजी आये हैं। फिर दौड़कर इनके पैरों में लिपट जाते। ये बार बार हमारा मुख चूमते, हमें भाँति-भाँति के उपहार देते। विचित्र विचित्र खिलौना लाते। आज ये हमारे मामाजी हमसे युद्ध करने खड़े हैं। ये शकुनी मामा यद्यपि हमसे मन ही मन जलते हैं, फिर भी मामा ही ठहरे। हम इनके सामने बोल नहीं सकते। और भी हमारे कई मामा यहाँ खड़े हैं।

ये दुर्योधन दुष्ट है। सदा से हमारा अहित ही चाहता है। फिर भी है तो हमारा भाई ही। इसके ये १०० भाई सब हमारे भाई बन्धु ही हैं। जब गन्धर्व गण दुर्योधन को बाँध कर ले गये थे। तब धर्मराज ने हमें कितना डाँटा था—अर्जुन! तू समझता नहीं। दुर्योधन हमारा भाई है, उसका अपमान हमारा अपमान है। वैसे हम भाइयों में कैसा भी मतभेद हो, दूसरों के लिये तो हम १०५ सगे भाई हैं। फिर हममें अन्तर ही क्या है इन सौ के और हम पाँचों के बाबा तो एक ही हैं। आज ये हमारे एक रक्त के भाई शत्रु बन गये हैं, हमारे रक्त के प्यासे हो गये हैं।

यह सामने दुर्योधन का पुत्र लक्ष्मण खड़ा है, इसके समीप ही दुःशासन का लड़का खड़ा है ये दोनों महारथी हैं, और भी भाइयों के पुत्र खड़े हैं। ये सब शूरवीर हैं। यह लक्ष्मण जब भी मिलता, तभी पैर छूकर कहता—चाचाजी! प्रणाम।" तब मैं इसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहता—"बेटा! तुम मन लगाकर शस्त्र विद्या में अभ्यास किया करो। तुम नामी वीर बन जाओगे। तब ये संकोच से दोनों कंधे झुकाकर धीरे से कहता—चाचाजी! आपका आशीर्वाद है।" आज यह सब शिष्टाचार भूलकर लड़ने

को उद्यत है। यही नहीं इसके तो लड़के भी बड़े-बड़े हो गये हैं, वे सब भी प्राणों का पण लगाकर युद्ध के लिये उद्यत हैं।

इनमें मेरे सभी सगे सम्बन्धी हैं, सुहृद हैं, मित्र हैं, बालक पन के सखा हैं, जिनके संग बाल्यकाल में खेले हैं, दुर्योधन, दुःशासन विकर्ण आदि की पुत्रियों के पति भी यहाँ आये हैं ये सब तो अपने बन्धु ही हैं। जिनसे प्रेम का बन्धन हो, अनुराग का सम्बन्ध हो वे सभी बन्धु कहलाते हैं। इधर कौरवों की ओर के जो लड़ने वाले ये लोग हैं। अब जिनसे लड़ने को उद्यत हैं, वे भी सब परस्पर में सम्बन्धी ही हैं। क्या धर्मराज भीम नकुल सहदेव और मैं इस दुर्योधन का भाई नहीं? पुरुजित कुन्ती भोज इनके मामा नहीं हैं। अभिमन्यु, घटोत्कच, इन सबको कौरव पुत्रवत ही मानते हैं। महाराज द्रुपद, शैव्य जैसे हमारेश्वसुर ऐसे ही इनके श्वसुर। जो इनके सम्बन्धी वे हमारे सम्बन्धी और हमारे सम्बन्धी सो इनके सम्बन्धी। दोनों सेना में सब घर ही घर के तो हैं। सब सम्बन्धी ही तो समर में समुपस्थित हैं। हाय! यह तो बड़ा अनर्थ होना चाहता है। भाई ही भाई को मारने को उद्यत है, सम्बन्धी ही सम्बन्धी के रक्त का पिपासु बना हुआ है। दोनों ओर से कोई भी मरेगा, अपना ही मरेगा, पाँचों उँगलियों में से छोटी बड़ी किसी को भी काटो, पीड़ा समान ही होगी। विजय पराजय की बात छोड़ भी दें तो दोनों ओर से मरने वाले और मारने वाले सब सगे सम्बन्धी आत्मीय जन ही तो होंगे। शरीर के किसी भी अंग को काट दो क्षति तो अपनी ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अर्जुन दोनों सेनाओं के वीरों के सम्बन्ध में सोचते रहे। अब सोचते सोचते उन्हें जैसे मोह हो जायगा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कोई लागे ससुर पिता भाभी के भाई।
लड़िवे आये सबहिँ मोहममता बिसराई ॥
धनुष बान कर लिये शत्रुता मन में मानें।
प्रान हरनकूँ ठड़े मानि अरि सर संधानें ॥
सब अपने ई सुहृद हैं, भूल बहुत मोतें भई।
आँखि फारि जब लखे सब, फटीफटी-सी रहि गई ॥

कृपाविष्ट अर्जुन

(१७)

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

ममता उपजी अधिक कृपावश ह्वै कें अरजुन ।
कवच धनुष शर धारि लखे अपने ही बन्धुन ॥
शोक युक्त मुख भयो हिये में भई गिलानी ।
स्वर गद्गद ह्वै गयो कण्ठतैं बोल्यो बानी ॥
पार्थ कहै श्रीकृष्णतैं–प्रभो ! निरखि निज जननि इत ।
गति विचित्र मेरी भई, अति ई चंचल भयो चित ॥

---

*संजय कह रहे हैं—"राजन् ! अर्जुन सभी सम्बन्धियों को देख कर अत्यन्त कृपा से युक्त होकर विषण्णवदन हुए यह वचन बोले ।

अर्जुन कहने लगे—"हे श्रीकृष्ण ! अपने इन सब स्वजनों को युद्ध की इच्छा से रणाङ्गण में समुपस्थित देखकर, मेरे संपूर्ण अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, और मेरे शरीर में कँपकँपी तथा रोमांच हो रहा है ।

दया और कृपा में विशेष अन्तर नहीं जैसे प्रेम में और मोह में। क्रियायें दोनों में समान होती हैं, किन्तु भावना के कारण परिणाम में अंतर हो जाता है। बिना भेद भाव से सर्व साधारण पर की जाने वाली सद्वृत्ति को दया कहते हैं। वही दया जब सम्बन्ध मानकर अपने पराये का भेद रखकर की जाती है, तो उसे कृपा कहते हैं।

एक प्रभावशाली व्यक्ति है। वह सबको मिष्टान्न वितरित कर रहा है। सबको चार चार मोदक दे रहा है। लेने वालों में अपने भाई भतीजे सगे सम्बन्धी हैं, उन्हें पाँच पाँच दे दिये। उनके साथ पक्षपात कर दिया मोहवश। बहुत से कोढ़ी बैठे हैं, उन्हें देख कर हमारे हृदय में दया आ गयी। उनका कुछ उपचार करने लगे। उनमें एक हमारा स्वजन है, उसको देखकर हम दुखी हुए उसके लिये विशेष प्रबन्ध तुरन्त कर दिया। यह कार्य हमने कृपावश किया।

युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है। अन्यायी को मार देना क्षत्रिय का कर्तव्य है। न जाने स्वर्ग में भूमि पर अर्जुन ने लड़ने की इच्छा से समराङ्गण में आये हुए कितने क्षत्रियों को मारा, उसे कभी दया नहीं आयी। कभी नहीं सोचा, ये लोग मर जायँगे, तो इनके परिवार वालों की क्या दुर्गति होगी? आज जब शत्रुरूप से—अन्याय का पक्ष लेकर अपने सगे सम्बन्धी लड़ने आये हैं, तो उसे दया आ गयी। वह इस विनाश का परिणाम सोचने लगा। यही बन्धुओं के प्रति स्नेहानुबन्ध है। यही मोह ममता है। ममता अपने यथार्थ रूप में आवे तो इसे कोई पास फटकने भी न दे। वह तो दया का वेष बनाकर आती है, परोपकार का बाना पहिनकर आती है। उन्नति की आशा दिलाती हुई आती है तभी आदमी विवश होकर उसके वशीभूत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में—दोनों सेनाओं के मध्यमें अपने ही समस्त स्वजनों को—सगे, सम्बन्धी, सुहृद, साथी तथा स्नेहियों कोएकदूसरे के प्राणलेनेकोउद्यतदेखकर अर्जुन का हृदय अत्यंत करुणा से भर आया, उसे स्वजनों के प्रति मोह ममता जाग उठी। मोह ममता का परिणाम होता है विषाद। आप जहाँ भी कहीं देखलें। विषाद सदा मोह ममता से होता है। विषाद में मुखमलिन पड़ जाता है, इन्द्रियाँ काम नहीं करती, सभी अंग शिथिल हो जाते हैं, आँखों में आँसू आजाते हैं, स्वर गद्गद हो जाता है, अंगों में कँपकँपी छूटती है, सम्पूर्ण शरीर में स्वेद—पसीना—आ जाता है। इस प्रकार स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय ये आठ विकार विषाद में स्पष्ट दिखायी देते हैं। ये तभी दीखते जब अपने किसी अत्यंत प्रिय का विनाश हो गया हो, बिछोह हो गया होगा विनाश की संभावना हो। सांसारिक मोह होने के कारण ये विकार कहे जाते हैं। ये ही आठ यदि प्रभु प्रेम के कारण हों, भगवत् भक्ति में हों, श्रीकृष्ण विरह के कारण हों तो इन्हें अष्ट सात्विक भाव कहा जाता है, किसी भाग्यशाली, पूर्वजन्मकृत पुण्यपुञ्जों वाले सुकृति के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

ये भाव अर्जुन को अपने सगे सम्बन्धियों की विनाश संभावना के कारण हुए यदि कहीं अन्यत्र होते, तो उसका पतन हो जाता, सौभाग्य से ये हुए तब जब सम्मुख श्यामसुन्दर उपस्थित थे। उसके रथ को जगत्पति हाँक रहे थे। भला जो प्राणिमात्र के सगे सम्बन्धी हैं सम्पूर्ण चराचर के सुहृद हैं, उनके सम्मुख माया मोह रह ही कैसे सकता है। अर्जुन अत्यन्त कृपावश हो गये और फिर अपने सारथी श्यामसुन्दर से कहने लगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! मैं अपने इन स्वजनों को देखकर चकित हो रहा हूँ।

भगवान् ने कहा—क्या तुमने पहिले कभी इन सब को नहीं देखा था ?

अर्जुन ने कहा—देखा क्यों नहीं था, किन्तु पहिले मैंने इन सबका सौम्य रूप देखा था। आज तो सब युद्ध क्षेत्र में डटे हुए हैं, और युद्ध की इच्छा से अस्त्र शस्त्र बाँधे, अपने-अपने वाहनों पर बैठे सेनापति की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये किसी और से भी लड़ना नहीं चाहते। हमसे ही युद्ध करने को उत्सुक हैं।

भगवान् ने कहा—जब ये सब लड़ने की इच्छा रखते हैं, तो तुम भी इनसे भिड़ जाओ।

अर्जुन ने कहा—महाराज! कैसे भी सही हैं तो ये हमारे स्वजन हो। इनसे हमें लड़ना पड़ेगा, इस बात के स्मरण आते ही मेरे तो सभी अंग शिथिल हो रहे हैं। धनुषबाण उठाने की बात तो पृथक् रही। इन शून्य से हुये हाथों से तृण भी उठाना संभव नहीं। मुख में रूक्षता आगई है, कंठ तथा तालु सूख रहे हैं, ओठ काले पड़ गये हैं, सम्पूर्ण शरीर में कँपकँपी हो रही है। मुझे ऐसा लग रहा है मानों कोई सम्पूर्ण शरीर को झकझोर रहा है, सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो रहा है।

एक सेह नाम का जंगली जीव होता है। उसके शरीर पर बहुत लंबे लंबे कांटे होते हैं। जब वह कुपित होता है तो उसके वे सब कांटे खड़े हो जाते हैं, तथा शत्रु के शरीर पर बाण का काम करते हैं। अनुराग में भी वे खड़े हो जाते हैं। जिस प्रकार सेह के शरीर में कांटे खड़े हो जाने पर उसका शरीर कांटोंमय बन जाता है, उसी प्रकार मोह हो जाने पर मेरे भी रोम खड़े हो गये हैं। संपूर्ण शरीर के रोम शिथिल न होकर वे सीधे खड़े हो गये हैं। मेरी एक विचित्र दशा हो रही है।

भगवान् ने कहा—अर्जुन! पागलपन मत करो। हाथों में

कस कर धनुष को पकड़ लो। प्रत्यंचा चढ़ाओ और शत्रु पर तक तक कर बाणों की वर्षा कर दो। आरम्भ में ऐसा होता ही है। धीरे धीरे लड़ने से फिर अभ्यास हो जाता है।"

अर्जुन ने कहा—प्रभो! अब मैं धनुष उठाने की स्थिति में हूँ ही नहीं। हाथ काम ही नहीं दे रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो। जब भगवान् ने अर्जुन की ऐसी स्थिति देखी, तब तो उन्होंने ध्यान पूर्वक अर्जुन को देखा। यथार्थ में अर्जुन ऐसा हो गया है, मानों इसको सर्वाङ्ग वात व्याधि हो गयी हो तब भगवान् ने चिल्लाकर कहा—अर्जुन! अपने गांडीव धनुष को तो सम्हालो।" इस पर अर्जुन ने जो उत्तर दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

निज सम्बन्धी सगे परस्पर लड़िबे आये।
अंग शिथिल मम भये तेज बल ओज गँवाये॥
मुँह सूख्यो ही जाय कंप सब तनमें होवै।
फाटी जावै देह नेह रन थलहि डुबोवै॥
वासुदेव कैसे कहूँ, निकसत नहिँ मुखतैं वचन।
रोमाञ्चित वपु ह्वै गयो, सेद सरिस सब भयो तन॥

—: o :—

शिथिलाङ्ग अर्जुन

[१८]

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥*

(श्री० भ० गी० १ अ० ३०, ३१ श्लोक)

छप्पय

थर थर काँपे देह गिरे गांडीव करनि तैं।
डगमग डगमग पैर श्वेद निकसत रोमनितैं॥
जैसे जरै अँगार जरै त्यों मेरो सब तन।
जाने का ह्वै गयो भ्रमित सो भ्रमो भयो मन॥
स्ववश रहे तन मन नहीं, अंगशिथिल इन्द्रिय अवश।
ठाढ़ो अब नहिं रह सकों, होवै अपयश वा सुयश॥

जैसा जब होने वाला होता है, वैसे ही उसके चिन्ह प्राकृत

---

*अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—"हे श्यामसुन्दर! हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है, मेरी त्वचा दहक रही है, मैं खड़ा रहने में असमर्थ हूँ, मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है। लक्षण भी विपरीत ही दिखायी दे रहे हैं, हे केशव! स्वजन बन्धु बान्धवों को मारकर मैं तो इसमें कल्याण नहीं देख रहा हूँ।

जगत में दृष्टि गोचर होते हैं। शुभाशुभ लक्षणों को जानने वाले, उन लक्षणों से ही शकुन या अपशकुन का निर्णय कर लेते हैं। महाभारतादि सभी ग्रंथों में शकुन और अपशकुन का अत्यधिक वर्णन है। जो एक के लिये शकुन है, वही दूसरे के लिए अपशकुन हो जाता है। हस्तिनापुर से लौटते समय कर्ण को श्रीकृष्ण थोड़ी दूर तक साथ ले गये थे। वहाँ कर्ण ने श्रीकृष्ण के सम्मुख बहुत से अपशकुनों का वर्णन किया है। यद्यपि उन सब अपशकुनों को कौरवों के लिए अहितकर तथा पांडवों के लिये हितकर सिद्ध किया है, किन्तु यहाँ तो अर्जुन का दृष्टिकोण ही बदल गया है, उसकी दृष्टि में अब स्वपक्ष परपक्ष रहा ही नहीं। अब तो वह मोह वश दुर्योधनादि कौरवों में तथा अपने सभी भाई पांडवों में कोई अन्तर ही नहीं समझता। उन सबको अपना स्वजन ही कहता है। उनके सगे सम्बन्धियों को अपना ही सगा सम्बन्धी समझ रहा है। दृष्टि में ही सृष्टि है, भावना में ही सब कुछ है। कोई वस्तु स्वतः न अच्छी है, न बुरी। कोई व्यक्ति न अपना है, न पराया। मानने की ही बात है, मानों तो देव नहीं तो पत्थर।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने बार बार सम्हल जा धनुषबाण उठा कर युद्ध के लिये तत्पर हो जा ऐसे भाव व्यक्त किये तब अर्जुन ने कहा—प्रभो! मेरे शरीर में तो अब शक्ति ही नहीं रही। मेरे हाथ से तो यह दिव्य गांडीव धनुष गिरा ही जा रहा है।

भगवान् ने कहा—अरे, तू समझता नहीं कभी कभी एक झुन झुन वायु होती है, जब वह पैरों में चढ़ जाती है, तो पैर कुछ कार्य नहीं कर सकते। उसके लिये लोग कहते हैं। मेरा पैर सो गया। कभी कभी वह झुनझुन वायु गंभीरा बनकर हाथों में भी आ जाती है। उस समय हाथों से रोटी का ग्रास नहीं तोड़ा जाता। तेरा धनुष तो दिव्य है, ताल के समान है, सुवर्ण मंडित है, बहुत

भारी है, जब हाथों में गंभीरा वायु आ जाती है, तो लेखनी भी नहीं पकड़ी जाती है, यह बात तो नहीं है। यदि ऐसा है, तो जिधर का अंग सो गया हो उसके विपरीत कान में एक तिनका रख ले। त्वचा को मल ले। हाथ पैरों को झाड़ कर फटफटा दे।

अर्जुन ने कहा—भगवान्! झुनझुन बात नहीं है, मेरे तो सभी अंग शिथिल हो रहे हैं। त्वचा ऐसी जल रही है, मानों अंगारा जल रहा हो। सम्पूर्ण अंगों में जलन हो रही है।

भगवान् ने कहा—अरे, भैया! युद्ध के ही समय तू यह क्या कर रहा है? मन को स्थिर कर, मन में चेतना ला। स्थिर होकर खड़ा रह।

अर्जुन ने कहा—"आप तो प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित करने वाले हैं। इसीलिये आप कृष्ण हैं। आप तो खड़े होने की बात कहते हैं, मैं तो क्षण भर के लिये कोई गंभीर विचार करने में भी असमर्थ हूँ। पैरों में शक्ति नहीं कि स्थिर होकर खड़ा रहूँ। हाथ काँप रहे हैं, पैर डगमगा रहे हैं। साथ ही मेरा मन घूमता सा दिखायी देता है। मुझे पता है, यह मस्तिष्क का रोग नहीं। यह तो मेरे मन की दशा युद्ध का परिणाम देखकर हो रही है। मुझे ज्योतिषियों ने बताया था, कि आज कल ग्रह बहुत ही विपरीत हैं, संसार में भीषण उत्पात होने की सूचना दे रहे हैं। मैंने तब से देखा अपशकुन ही अपशकुन दिखायी देने लगे हैं। देखा गया है, जब प्रातः काल सूर्य उदय होता है, तो सियारिन सूर्य की ओर मुख करके रोती है। उल्लू बुरी तरह शब्द करते हैं, दिशायें धूम्र वर्ण की हो गयी हैं, सूर्य और चन्द्रमा की ओर मंडल दिखायी देते हैं, बार बार भूकंप होते हैं पृथिवी पर्वतों के सहित काँपती सी दिखायी देती हैं, वायु कठोर चलती है, रक्त की वर्षा होती है, आकाश में ग्रह

गण टकरा रहे हैं, नदी, नद समुद्र आदि जलाशयों में क्षोभ हो रहा है, देवमूर्तियाँ रुदन करती हैं, उनके नेत्रों से अश्रुविन्द निकलते हैं। मांस भोजी कंक, गृद्ध सियार आदि इधर उधर भ्रमण कर रहे हैं, इन सब उत्पातों को देखकर ऐसा लगता है, विश्वका संहार होने वाला है, मुझे ये लक्षण अनुकूल दिखायी नहीं देते। ये सब विपरीत लक्षण हैं। इन सब उत्पातों से यही प्रतीत होता है, कि स्वजनों को प्रजाजनों को क्लेश होने वाला है।

भगवान् ने कहा—भैया, जो होने वाला है वह तो होकर ही रहेगा, तू क्या इन उत्पातों को टाल सकता है ?

अर्जुन ने कहा—भगवान् ! मैं तो टाल नहीं सकता, किन्तु आप तो क्लेशों का नाश करने वाले हो इसीलिये केशव कहलाते हो, व्रज में केशी नामक एक दैत्य आया था, वह भी बड़ा उत्पात करता था, आपने उस केशी राक्षस को भी मार दिया। आप इन अनिष्ट रूपी असुर का भी विनाश कर दें।'

भगवान् ने कहा—इन अघासुर, बकासुर, केशी आदि असुरों का वध तो मैंने करा दिया, अब ये राजाओं के रूप में असुर तेरे सम्मुख खड़े हैं, इनका तो तू नाश कर ही दे। पीछे देखा जायगा। ये आततायी युद्ध के लिये कौरव सम्मुख खड़े हैं, इन्हें मार कर तो पृथिवी का कंटक दूर कर दे। इन्हें मार कर तो विश्व का कल्याण कर दे।'

अर्जुन ने कहा—हे केशव ! मैं यह मानता हूँ। धृतराष्ट्र के ये दुष्ट पुत्र दुर्बुद्धि हैं, इनके विचार अधर्म जन्य हैं। फिर भी हे श्यामसुन्दर ! कैसे भी क्यों न हो, हैं तो हमारे स्वजन ही। एक ही कुल गोत्र वंश के हैं। हमारे पिता और इनके पिता सगे भाई भाई ही तो थे। अभी दश पांच पीढ़ियों का भी अंतर नहीं, केवल

एक पीढ़ी का अन्तर है। अपने ही स्वजनों को, भाई बन्धुओं को मार कर हमें क्या मिलेगा? भाइयों को मार कर विश्व का कल्याण कैसे होगा। अतः मेरी दृष्टि में तो वंशवालों का वध करना श्रेयस्कर नहीं है। इस काम को तो पशु भी नहीं करते। जब सिंह जंगली गौओं पर प्रहार करता है, तो गौएँ अपने वंश के सब बच्चों को बीच में कर लेती हैं और मंडलाकार खड़ी हो जाती हैं, अपने सींगों के प्रहार से कुल के संहार को रोकती हैं। हम उन पशुओं से भी निकृष्ट सिद्ध हो रहे हैं, कि अपने कुल का संहार स्वयं ही करने के लिये उद्यत हो रहे हैं। अपने ही भाइयों और सगे सम्बन्धियों का वध करके संसार में आज तक कोई सुखी नहीं देखा गया। कैसे भी हों, अपने अपने ही होते हैं, पराये पराये ही होते हैं। जो अपने स्वजनों को सुख नहीं पहुँचाता उसका जीवन धिक्कार है। कौए की भाँति अपना ही पेट पालकर सौ वर्ष तक जीता रहे तो उसका जीना कोई जीना थोड़े ही है।

श्रीकृष्ण ने कहा—अरे, तू कैसी विपरीत बातें करता है। कुछ ही काल पूर्व तो तू ऐसी बढ़ बढ़ कर बातें कर रहा था। ऐसे ऐसे मनसूबे बाँध रहा था। इस सेनापति को यहाँ नियुक्त करो, इसे वहाँ नियुक्त करो। ऐसा न करोगे तो हमारी विजय कैसे होगी। हमें अपनी विजय के लिए ऐसी व्यूह रचना करनी चाहिये जिससे शत्रु उसका भेदन न कर सकें, हमारा व्यूह अभेद्य हो, और अब तू ऐसी बातें कर रहा है, कि स्वजनों के वध से मैं कल्याण नहीं देखता। ऐसी निराशा की बातें तू किस कारण कर रहा है?

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसके उत्तर में अर्जुन जो कुछ कहेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

जबतें निश्चय भयो समर कौ तब तें स्वामी ।
सगुन सब विपरीत दिखें प्रभु अन्तरयामी ॥
बरसा होवै रुधिर देखि रवि रोवें सियारिन ।
शशि मंडल चहुँ ओर कालिमा है ये असगुन ॥
दीखतु है इन सबनि तें, नाश होहि कुल को अबहिं ।
मारि स्वजन समुदाय कूँ, होवैगो कल्यान नहिं ॥

मुझे विजय नहीं चाहिये

[१६]

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।*
(श्री भ० गी० १ अ० ३२ ३३, श्लो०)

छप्पय

मनुज मनस्वी स्वजननि हित ही भोग जुटावें ।
ते ही यदि मरि जायँ, फेरि का, सुख वे पावें ।।
राज पाहि के सबहिँ बन्धु कुल के हरषावें ।
संग सबनि सुख भोग करें सब स्वजन सिहावें ।।
जामें जन कुलके मरें, राज कहा यह-पाप है ।
भोग और जीवन वृथा, गोविंद यह-संताप है ।।

जीवन में जब राग होता है, तब यह भी ला, वह भी ला,

---

*अर्जुन कह रहे हैं—"हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता । हे गोविन्द ! ऐसे राज्य से हमें क्या प्रयोजन है, ऐसे भोगों से क्या, अथवा ऐसे सुख में भी क्या रखा है । जिनके लिये हम राज्य, भोग तथा सुखादि चाहते हैं । वे हमारे सभी स्वजन तो धनों का तथा प्राणों का मोह त्यागकर यहाँ युद्ध के निमित्त खड़े हैं ।

यह भी मेरा बन जाय, वह भी मेरा हो जाय, ऐसे भाव उठा करते हैं। किसी भी प्रकार से क्षणिक अथवा स्थायी वैराग्य हो जाय, धन नष्ट हो जाने से, अपने अत्यंत प्रियके मरने से या मृत्यु की संभावना से अथवा अन्य किसी कारण से संसारी भोगों से मन उपराम हो जाय, तो ये समस्त संसारिक सुख इन्द्रियों को सुख देने वाले भोग तुच्छ दिखायी देते हैं। कल तक जिन भोगों के लिये अत्यन्त आग्रह था, जिनकी प्राप्ति के लिये सब कुछ करने को उद्यत थे, वैराग्य होने पर ये नगण्य से दिखायी देते हैं। उस समय हमें अपने पूर्व के विचारों पर पश्चात्ताप होता है। अरे, हम कैसे बहक गये थ। एक इतनी सी साधारण वस्तु के लिये हम ऐसा भारी अनर्थ करने की बात सोच रहे थे। उस समय अपनी ये बातें शत प्रतिशत सत्य प्रतीत होती हैं। अपने इन उत्तम विचारों का गर्व होता है। उसके पक्ष में हमें सैकड़ों उक्तियाँ याद आने लगती हैं। क्योंकि वैराग्य के बिना त्याग टिक नहीं सकता और अमृतत्व की प्राप्ति में एक मात्र त्याग ही मुख्य कारण है। यदि वैराग्य स्थायी होता है, तो मनुष्य संसार बन्धन से छूट जाता है। यदि वैराग्य क्षणिक है, मोह जनित है किसी कारण विशेप से है तो उसके समाधान हो जाने पर समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के पूर्व कृत विजय के प्रयत्नों का स्मरण दिलाकर उसे यह भय दिखाना चाहा, कि यदि तू स्वजनों के बध से विरक्त हो जायगा, तब तो तेरी पराजय निश्चित ही है। शत्रुओं को तो मुँह माँगी वस्तु—बिना प्रयत्न के ही मिल जायगी वे बिना युद्ध किये ही विजयी हो जाँयगे। राज्य के सुखों का पूर्ववत उपयोग करते रहेंगे। तू बिना युद्ध के ही पराजित माना जायगा। राज्य के सुखों से सदा सर्वदा के लिये वञ्चित कर दिया जायगा।

इस पर अर्जुन कह रहे हैं—हे कृष्ण! तुम तो समस्त प्राणियों को अपनी ओर खींचने वाले हो, फिर आप मुझसे ऐसी आशा क्यों रखते हैं, कि मैं व्यर्थ की विजय के लिये हिंसा जैसे तुच्छ अधम निन्दनीय तथा लोक गर्हित कार्य में प्रवृत्त होऊँ। मुझे इन शत्रु रूप धारी स्वजनोंको मारकर विजय नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। ऐसी विजय को मैं दूर से ही नमस्कार करता हूँ।'

भगवान् ने कहा—देखो, तुम पहिले की भाँति इन्द्रप्रस्थ के राजा होते और दूसरों का राज्य लेने के लिये अन्य राजाओं को पराजित करने को युद्ध करते और किसी कारण से उस युद्ध से पराङ्मुख होकर विजय की आशा छोड़ देते, तब तो ठीक भी माना जाता, क्योंकि शत्रु पक्षीय राजा अपने राज्य पर बना रहता तुम अपने राज्य पर लौट आते। तुम अपने घर वह अपने घर। तुम अपनी राजधानी के राजा बने रहते. वह अपनी राजधानी में अपने पिता पितामह के राज्य को सम्हालता रहता किन्तु आज तो ठीक इसके विपरीत है। आज तुम्हारी विजय हो जाय तब तो तुम्हें अपना पैतृक राज्य मिल जाय, यदि तुम युद्ध से पराङ्मुख हो गये, तब विजय तो गयी ही राज्य भी न मिलेगा। विजय श्री भी उन्हें वरण करे लेगी और सम्पूर्ण राज्य पर भी सदा के लिये उनका अधिकार हो जायगा।"

इसपर अर्जुन ने कहा—महाराज! मुझे राज्य भी नहीं चाहिये।

भगवान् ने कहा—अरे,तुम कैसी बातें कह रहे हो, पागल हो गये हो क्या? क्षत्रिय भला, कभी राज्य के बिना रह सकता है। राज्य नहीं तो राजसी ठाठ कहाँ से आवेंगे, राजसी भोग भोगने को कैसे मिलेंगे?

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आप तो गोविन्द कहाते हैं। क्या आपने गौओं का पालन दूध की इच्छा से किया था, यदि दूध की इच्छा से करते तो आप वहाँ से चले क्यों आते ? आप तो इन्द्रियों के स्वामी हैं। इन्द्रियाँ सब आपके अधीन हैं। इन्द्रियों पर आपने विजय प्राप्त करली है। यथार्थ विजय तो इन्द्रियों को जीतने में ही है। यह लौकिक विजय तो उपचार मात्र है। आप ही सोचें इस लौकिक राजपाट में रखा ही क्या है। राज्य को तो एक दिन छोड़ना ही है, हमारे सभी पूर्वज अपने इतने भारी भारी राज्यों को छोड़ छोड़कर अंत में वन ही चले गये। जब छोड़ना ही उसका एक मात्र प्रयोजन है, तब पहिले कीच लगाकर फिर उसे धोने से लाभ ही क्या ? कीच को लगने ही न दे। रही राजसी भोगों की बात सो आप मेरे स्वभाव को जानते ही है, मुझे संसारी भोगों में कोई विशेष रुचि भी नहीं। और श्यामसुन्दर ! इन भोगों में रखा ही क्या है। ये संसारी भोग क्षणिक सुख देने वाले है, सुख भी नहीं तत्काल सुखभास सा प्रतीत होता है, परिणाम में तो ये दुखप्रद ही हैं।"

भगवान् ने कहा—अरे, भैया ! यह तो सब सत्य है, किन्तु शरीर को उसका आहार न मिलेगा, तो जीवन निर्वाह कैसे होगा ?

अर्जुन ने कहा—महाराज वनों में ये इतने ऋषि मुनि निवास करते हैं। इन सबके पास राज्य ही है क्या ? हम जो राज्यपाट के बिना इतने दिनों तक वनों में भटकते रहे, क्या भूखों मर गये ? राज्य के बिना भी हम जीवित बने रहे। धर्मराज के त्याग की सर्वत्रख्याति थी बड़े बड़े राजे महाराजे उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे। राज्य के बिना भी वनके कंदमूल फलों

पर निर्वाह करके हम जीवित बने रहे। मान लो हम राज पाट के बिना भोगों से वंचित होकर मर ही गये तो क्या हुआ? मरना तो एक दिन सभी को है, ऐसे जीवन से भी क्या लाभ कि जिसके लिये लाखों करोड़ों का जीवन नष्ट करना पड़े। स्वजनों की हत्या करनी पड़े। अपने ही सगे सम्बन्धियों को हाथ में शस्त्र लेकर उनका वध करना पड़े।

भगवान् ने कहा—जब ऐसी ही बात थी, तो वन से लौटकर तुमने राज्य के लिये उद्योग ही क्यों किया?

इसपर अर्जुन ने कहा—देखिये, प्रभो! राज्य अधिकार धन वैभव की दो प्रकार से चाहना होती है। एक तो राज्य पाकर हम सुखी हो जायँ, हमारा शरीर हृष्ट पुष्ट निरोग बन जायँ, हमें ही सब प्रकार के सुख प्राप्त हो। यह भावना तो अधम लोगों में होती है। दूसरे इस भावना से राज्य, धन वैभव को चाहते हैं, कि हमें ये सब मिल जायँ तो हमारे बन्धु बान्धव सब सुखी हो जायँगे। हम सब साथ साथ मिलकर राज्य सुख भोगेंगे। हमारे बन्धु बान्धव अच्छे अच्छे बड़े बड़े पदों पर पहुँच जायँगे। सब ज्ञाति बन्धु मिलकर सामाजिक धार्मिक साहित्यिक कार्य किया करेंगे। नाटक, लीला आदि मनोरंजन के आयोजन होंगे, तो अपने सगे सम्बन्धियों, स्वजनों से घिर कर उनका आनन्द लेंगे। क्योंकि जिसके धन वैभव से सगे सम्बन्धियों, इष्ट, मित्र स्वजनों को सुख न हो वह सब व्यर्थ है। मैंने राज्य का प्रयत्न अपने लिये नहीं किया था। सोचा था सब लोग सुख पूर्वक साथ साथ रहेंगे। देखिये, जब हम इन्द्रप्रस्थ में राजा थे, तब हमने राजसूय यज्ञ किया था, हमारे सभी सगे सम्बन्धी उसमें उपस्थित थे। ये हमारे ताऊजी के सौ के सौ पुत्र वहाँ उपस्थित थे। वे सब राज पुत्रों की भाँति सुखोपभोग करते थे। सभी कहते थे, हमारे यज्ञ में कोई कमी नहीं है। जो चाहो सो ले जाओ,

जितना चाहो खा जाओ बाँधले जाओ। सभी समान रूप से वैभव को अपना ही मानते थे। यथार्थ राजा का सम्मान तो वहाँ दुर्योधन को ही प्राप्त हुआ। सब भूपतिगण तो उसे ही ला ला कर भेंट अर्पण करते थे उसी के चरणों में सिर झुकाते थे। झुकाना ही चाहिये था। हम सब भाइयों में धर्मराज के पश्चात् वे ही ज्येष्ठ श्रेष्ठ हैं। सम्मिलित परिवार में सभी का समान अधिकार होता है। चाहे कोई काम करे या न करे। सम्मिलित परिवार ही ठहरा। दुःशासन आगत राजाओं की कैसी दौड़दौड़ कर सेवा करता था। अपने घर का ही काम समझता था। सम्मिलित परिवार का सुख इसी में है, जो भी कुछ आवै वह कुटुम्ब परिवार की सम्पत्ति समझी जाय और सभी समान रूप से सुखोप भोग करें। सभी लोग यही मनाते रहते हैं,कोई हमारे परिवार का उच्चपद पर पहुँच जाय तो उसके सहारे हम भी सुखों का उपभोग करें। उच्चपद प्राप्त करने वाले की भी यही अभिलाषा होती है, कि सब परिवार वालों को बाँटकर खायें। मैंने तो स्वजनों को सुखी करने की भावना से राज्य की इच्छा की थी।

भगवान् ने कहा—तो स्वजन तो अब भी हैं। राज्य प्राप्त होने से धर्मराज, भीम, नकुल और सहदेव सभी सुखी होंगे।

अर्जुन ने कहा—प्रभो! आप तो महान् हैं, संकुचित सीमा क्यों बनाते हैं, जैसे ही हमारे लिये धर्मराज वैसे ही दुर्योधन जैसे हमारे लिये नकुल सहदेव वैसे ही दुःशासन, विकर्ण, आदि सभी भाई, सभी भाइयों को कुटुम्ब परिवार, सगे सम्बन्धियों को सुख देना चाहिये।

भगवान् ने कहा—मना कौन करता है, राज्य प्राप्त होने पर सब को सुख देना।

अर्जुन ने कहा—सुख देंगे कैसे? ये सब तो धन की प्राणों

की तथा समस्त विषयों की आशा त्यागकर, अस्त्र शस्त्र बाँध कर, वाहनों पर चढ़ चढ़कर रणक्षेत्र में मरने मारने को उद्यत है। अब तो एक पक्ष सुखी तभी होगा, जब दूसरे पक्ष को नाश कर दें। अब तो सुख रक्त पान के समान है। जो पक्ष जिसे मार डालेगा, वही उस रक्तरंजित राज्य के सुखों का उपभोग करेगा। सब सम्बन्धियों को समान रूप से सुख तो नहीं मिला ?"

भगवान् ने कहा—अरे, भैया! आजीविका के लिये कुछ न कुछ हिंसा तो करनी ही पड़ती है अब देखो, किसान खेतीकरता है, हल चलाने में कितने जीव मर जाते हैं, कुम्हार वर्तनों को आग में पकाता है कितने जीव जल जाते हैं। रेशम बनाने वालों को कितने कीड़ों का वध करना पड़ता है। मनुष्य को आजीविका के लिये इच्छा न होने पर भी हिंसा करनी पड़ती है। क्षत्रिय का धर्म ही है लड़ाई करना।

अर्जुन ने कहा—मधुसूदन! यह तो सत्य है, कि आजीविका के लिये आवश्यक हिंसा इच्छा न होने पर करनी ही पड़ती है। फिर भी भगवन्! कुछ सगे सम्बन्धी ऐसे होते हैं, जो अपवाद गिने जाते हैं। सर्प सर्वत्र टेढ़ा चलता है, किन्तु अपनी वामी में सीधा ही घुसता है। कैसा भी व्यभिचारी हो माता बहिनों को वह भी छोड़ देता है। यद्यपि क्षत्रिय का धर्म है युद्ध में सम्मुख आये शत्रु को मारना। फिर भी स्वामिन्! इसमें कुछ अपवाद है, इतने सम्बन्धी ऐसे हैं, कि जिनका अपराधी होने पर भी यथाशक्ति-यथा सामर्थ्य वध नहीं किया जाता चाहें इससे अपने को हानि ही क्यों न उठानी पड़े।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अवध्य सम्बन्धियों के जो नाम अर्जुन ने गिनाये हैं, उनका वर्णन मैं आगे करूँ।

छप्पय

अपने लीये नहीं राजधन वैभव केशव।
इन्द्रिनिके जो भोग अकेले नहिँ सुखकर सब॥
जितने सुख के साज स्वजन सँग सुख पहुँचावें।
बन्धुनि सँग मिलि खाइ वेदविद विज्ञ बतावें॥
जिनके हित सब कछु करें, तेई रन में आइकें।
वे सम्मुख धन प्रान की, ठाड़े आश गँवाइकें॥

इनको नहीं मारूँगा

[२०]

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।*

(श्रीभ० गी० १ अ० ३४, ३५ श्लोक)

छप्पय

ये आचारज द्रोन चचा ताऊ गुरु भ्राता ।
पुत्र भतीजे सकल पितामह रक्षक त्राता ।।
ये मातनि के बन्धु हमारे मामा प्यारे ।
पुत्रनि के हू पुत्र मातुपितु अतिहिँ दुलारे ।।
पत्निनि के जो बन्धु हैं, सारे अति प्यारे बड़े ।
वैर भाव हिय धारिकैं, मारन हित सम्मुख खड़े ।।

जो सौहार्द है, मित्रता तथा सख्य सम्बन्ध तो कहीं भी किसी भी वर्ग में पूर्व जन्मों के संस्कारानुसार हो जाता है। इसके लिये जाति, धर्म, विद्या तथा समानता आदि की आवश्यकता नहीं

---

*अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—हे मधुसूदन ! आचार्यगण, पिता चाचा आदि, पुत्र भतीजे आदि, पितामह लोग, मामाओं को, श्वसुर, पौत्र, साले तथा अन्य भी जो सम्बन्धी हैं, इन्हें मैं मारना नहीं चाहता, भले ही ये मुझे मार डालें। मैं इन सबका बध, तीनों लोकों का राज्य मिले तो भी करना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या है।

होती। किन्तु यौन सम्बन्ध तो प्रायः अपनी जाति में ही होता है। जिनसे रक्त का सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध तीन के ही द्वारा होता है माता के सम्बन्ध से, पिता के सम्बन्ध से तथा पत्नी के संबन्ध से। माता के जो भी सम्बन्धी हैं वे हमारे अपने सम्बन्धी हैं, फिर चाहें उनको हमने कभी भी देखा तक न हो। अपने पिता के जो सम्बन्धी हैं, फिर चाहें वे हम से प्रेम रखते हों या न रखते हों हमारे सगे सम्बन्धी हैं, कोई विपक्षी उनके विरुद्ध आक्रमण करे तो हमें इच्छा न रहने पर भी लोकाचार के कारण उनका पक्ष लेना पड़ेगा। पत्नी के जितने सम्बन्धी हैं, वे भी हमारे सम्बन्धी हैं। हमारे पुत्र पौत्र तो पितृकुल में ही आ गये। एक ज्ञान का भी सम्बन्ध होता है, जिन्होंने हमें पढ़ाया हो, मंत्र दीक्षा दी हो, ये भी हमारे परिवार में ही सम्मिलित हो जाते हैं। इतने लोगों को अपने सगे सम्बन्धियों को भरसक कभी दंड न देना चाहिये। ये सब हमारे द्वारा संरक्षित समझे जाते हैं। जब कोई हमारी वस्तु को नहीं देता, तो हम क्रोध करके कहते हैं—हम उन पर अपनी वस्तु क्यों छोड़ दें, वे हमारे सगे सम्बन्धी हैं क्या ? वे हमारे कुछ लगते तो हैं नहीं, अर्थात जो सम्बन्ध में हमारे कुछ लगते हों, सगे हों उसके सभी अपराध क्षमा किये जा सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब भगवान् द्वारा यह जिज्ञासा की गयी, कि ऐसे कौन कौन से सम्बन्धी हैं जो अपराध करने पर भी अवद्धय हैं। इस पर अर्जुन कह रहे हैं देखिये मधुसूदन ! मैं आप की बात नहीं कहता। आप तो विधि निषेध से परे हैं। आप को तो वैदिक मार्ग की रक्षा करनी है। आप मधुराक्षस को भी मार सकते हैं और अपने सगे मामा का, फूफी के लड़के का, तथा आवश्यकता होने पर अपने सगे सम्बन्धियों का भी वध कर सकते हैं। आप की बात तो छोड़ दीजिये। सामान्य

तथा जिन्होंने हमें विद्या पढ़ायी हो, मंत्र दीक्षा दी हो, जो हमारे वंश परम्परागत पुरोहित हों, ये सब आचार्य कहलाते हैं। इन का कभी भी वध न करना चाहिये। इनका जो वध करता है, वह क्लेश पाता है। आप जानते ही हैं स्वर्गपति देवेन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया था। उनकी माता देवशत्रु असुरों के कुल की थी, उनके सिर भी तीन थे। एक से वे सोमपान करते, दूसरे से अन्नादि खाते और तीसरे से सुरा का भी पान करते। उच्चस्वर से तो देवताओं को भाग देते और गुप्त रूप में असुरों से भी मिले रहते, उन्हें भी भाग दे देते। इन्द्र ने सोचा—यह आचार्य हमारा पुरोहित न होकर शत्रु का काम करता है। ऐसे तो यह हमारे राज्य, धन ऐश्वर्य सभी को शत्रुओं को दिला देगा। अतः उन्होंने क्रोध में भर कर उसके तीनों सिर काटडाले। इस पर इन्द्रकी कैसीकैसी दुर्गति हुई। उनके सिर पर ब्रह्महत्या लगी, जैसे तैसे बड़े बड़े वरदानों द्वारा उसे चार स्थानों में बाँटा, वृत्रासुर से घोर युद्ध करना पड़ा। जब तीनों लोकों के राजा स्वर्गपति देवेन्द्र की आचार्य के मारने पर इतनी दुर्गति हुई तब हम लोग तो वस्तु ही क्या हैं, अतः मैं अपने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि को नहीं मारूँगा। यद्यपि ये मारने योग्य हैं—अधर्म का पक्ष ले रहे हैं, फिर भी इनका वध उचित नहीं।

धृतराष्ट्र हमारे ताऊ हैं, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा भी हमारे चाचा हैं और भी पितृतुल हमारे कुल के पितृव्य हैं, इनका वध करना भी न्याय संगत नहीं।

दुर्योधनादि सौ भाइयों के लड़के हमारे अपने ही लड़के हैं, उनके लड़के पौत्र हैं। केवल दो पीढ़ी का ही तो अंतर है। सात पीढ़ी तक तो लोग सूतक पातक मानते हैं इन अपने ही पुत्रों का मैं वध करूँगा तो पुत्रघाती कहलाऊँगा। पितामह तो पिता के

भी पिता हैं, इनका तो पिता से भी बढ़कर आदर करना चाहिये। यही नहीं पिता के जो मित्र हों उनको भी पितृव्य मानना चाहिये। श्रीराम ने जटायु गृद्ध को दशरथ के मित्र होने के कारण चाचा मानकर उसकी मनुष्यों की भाँति क्रिया की, श्राद्धतर्पण किया। सो ये सब भीष्म पितामह सोमदत्त आदि तो हमारे पितामह के सगे बन्धु हैं। इन्हें मारना तो पितृवध से भी अधिक पाप कर है।

इन पांडवों की पत्नियों के पिता भाई हमारे श्वसुर साले लगते हैं, साले के सौ अपराध नहीं माने जाते वह चाहे जितनी भी गालियाँ दे ले साला तो फिर साला ही है। श्वसुर पिता के तुल्य माना जाता है। अन्न देने वाला, भय से छुड़ाने वाला, विद्या देने वाला, संस्कारादि कराने वाला, जन्म देने वाला अपना पिता और श्वसुर इन ६ की पिता संज्ञा है। सो श्वसुरों और सालों को भी कभी नहीं मारना चाहिये।

मातृ पक्ष में अपने जैसे नाना हैं, मामा हैं, मामा के लड़के हैं, ये सब सगे सम्बन्धी हैं। आप हमारे मामाजी के पुत्र ही तो हैं, कैसा सम्बन्ध निभा रहे हैं अतः प्रभो ! सगे सम्बन्धियों के वध से मुझे बचाइये। इन्हें मैं मारना नहीं चाहता।

भगवान ने कहा—अरे, भैया ! तू तो मारना नहीं चाहेगा, किन्तु ये तुझे कब छोड़ने वाले हैं। तू न भी लड़ेगा तो भी ये सब तुझे घेर कर मार डालेंगे।"

अर्जुन ने कहा—ये मुझे भले ही मार डालें। किन्तु मैं इन्हें नहीं मारूँगा। ये भले ही मर्यादा का पालन न करें, किन्तु मैं तो मर्यादा के बाहर न जाऊँगा। कुल परम्परा का सनातन धर्म का पालन करूँगा।

भगवान ने कहा—भूमि की प्राप्ति के लिये क्षत्रिय धर्म का पालन करने के निमित्त शत्रुतावश शस्त्र लेकर सम्मुख आये हुए

का वध करना पाप नहीं। विना ऐसे शत्रु को मारे क्षत्रिय धर्म का पालन न होगा, भूमि की प्राप्ति न होगी।

अर्जुन ने कहा—न हो न सही, तनिक सी भूमि के लिए सम्बन्धियों की हत्या! छी! कैसा घृणित कार्य है। आप तो पृथ्वी प्राप्त होने की बात कह रहे हैं। मैं तो कहता हूँ, मुझे पाताल, भूमि तथा स्वर्ग का भी राज्य मिले तो भी मैं ऐसा पाप न करूँगा। स्वर्ग में गया हूँ, वहाँ का ऐश्वर्य वैभव सुख मैंने देखा है, वहाँ की अप्सराओं का सौंदर्य आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देता है, इतना सब होने पर भी यदि अपने सगे सम्बन्धियों को मारने पर वह स्वर्ग मिलता हो, तो मैं उसे दूर से ही दंडवत करता हूँ। उसे मैं रक्त से सने भोग के समान मानता हूँ। मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। बन्धुवध करके इन्द्र पद पर मैं लात मारता हूँ।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! आवेश में आकर जब अर्जुन ने तीनों लोकों के राज्य पर भी लात मारने की बात कही, तब भगवान् ने कुछ भी नहीं कहा। वे अर्जुन की ओर देखकर तनिक मुस्करा भर दिये। भगवान् की रहस्य भरी मुस्कान से अर्जुन का आवेश ठंडा पड़ गया। वह गंभीर हो गया। फिर गंभीरता पूर्वक शनैः शनैः शास्त्र दृष्टि से अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए जैसे उसने कहा, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

तीनि लोक को राज भले ही चाहे पाऊँ।
परि हौं इनिकूँ नहीं मारनो माधव चाहूँ॥
हे मधुसूदन! मोइ सकल मिलि चाहें मारें।
चाहें अस्त्र अमोघ चलावें हमें सँहारें॥
भूमि, स्वरग, पाताल को, राजमिलै वधि निज स्वजन।
तोऊ शव के सरिस प्रभु, भू हित च्यौं फिरि करूँ रन॥

सम्बन्धियों कोमारकर माधव ! मिलेगा क्या !

[२१]

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिःस्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥*

(श्रीभ गी० १ अ० ३६, ३७ श्लो०)

छप्पय

अंधपिता धृतराष्ट्र पुत्रशत इनके अघमति ।
इनकूँ बधिकें कहो प्रीति का होगी जगपति ॥
पाप लगेगो हमें जनार्दन स्वजन मारिकें ।
अपयश होवै भलें विरत रन भयो हारिकें ॥
खड्गी, विषदाता अगिनि, हर्ता दारा, क्षेत्र, धन ।
आततायि है योग्य वध, तऊ न मारूँ सब स्वजन ॥

वाद विवाद का कारण यह होता है, कि मनुष्य एक ही बात पर विशेष बल देने लगता है; उसी को मुख्य मान बैठता है, शेष सभी को गौड़ कहकर टाल देता है। कर्मकांडी कर्म पर ही विशेष

---

*अर्जुन कह रहे हैं—हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी । इन आततायियों को मारकर हमें केवल पाप ही पाप मिलेगा, इसलिये इन अपने ही भाई कौरवों को मारना उचित नहीं हे माधव ! अपने ही स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ।

वल देते हैं, किन्तु वेद में कर्म, उपासना, और ज्ञान तीनो का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ हैं। अन्तर केवल है मुख्य तथा गौड़ का। कर्म कांडी कहते हैं, वेद का मुख्य तात्पर्य है कर्म के प्रतिपादन करने में। कहीं कहीं जो थोड़ी बहुत ज्ञान की प्रशंसा है, वह केवल स्तुति मात्र है, ब्रह्म माने वैश्वानर उसकी प्रशंसा मात्र है। इनके विपरात जो ज्ञानपर ही वल देते हैं,उनकाकहना हैज्ञान के बिना तो मुक्ति हो नहीं सकती। और वेद का मुख्य प्रतिपादन विषय है मुक्ति। कर्म से कभी मुक्ति हो नहीं सकती। यह तो अदृढ़ नौका है, कहीं कहीं कर्म की जो प्रशंसा है, वह बच्चों के बहलाने के लिये। जो कर्म संगी हैं, अज्ञानी हैं उनमें बुद्धि भेद न हो जाय। इसके लिये कर्म की प्रशंसा कर दी है, कि अकर्मण्य बनकर आलसी न हो जायँ। केवल एक ही विषय पर बल देने से मत भेद हो जाता है। पक्ष और विपक्ष दो बन जाते हैं। अर्जुन का पहिले तो बल था क्षत्रिय धर्म पर शत्रुओं से बदला लेने पर इसीलिये आठो प्रहर युद्ध के लिये उतावला हुआ डोलता था। आज उसका मुख्य बल है "स्वजन वध" पर 'स्वजनों को कैसे मारें' यही उसकी बार बार टेक है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! जब अर्जुन सभी सम्बन्धियों के नाम गिनाकर और अत्यंत आवेश मे आकर यह कह गये, कि मैं त्रिलोकी के राज्य के लिये भी अपने स्वजनों को नहीं मारूँगा, नहीं मारूँगा। तो इतना सुनकर माधव मुस्करा दिये। भगवान् जब अपने भक्तों के तापत्रय का नाशकरना चाहते हैं,तब वे अपने उस शरणागत नरपुरुष की ओर अपनी मंद मंद मुसकान को छोड़ दिया करते हैं। जब भगवान् मुस्करा दिये, तो अर्जुन का आवेश ठंडा पड़ गया, वह बड़ी ही दीनता से सहज स्वभाव वाणी मे बोले—अच्छा, जनार्दन ! मैं आप से ही पूछता हूँ कि इन अपने सगे ताऊ के लड़कों को मार कर हमें मिल ही क्या जायगा ?

भगवान् ने कहा--मेरे मित्र ! सब काम मिल ने को ही थोड़े किये जाते हैं। संगीतों में, नाटकों में खेल तमासों में लोग जाते हैं, धन गँवाते हैं समय लगाते हैं, वहाँ मिलता क्या है ? केवल मनोविनोद के लिये प्रसन्नता के लिये भी बहुत से कार्य किये जाते हैं।

अर्जुन बोले—"हाँ, महाराज ! बहुत से कार्य प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, बहुत से लोग भैंसा, बकरा, कुक्कुट तथा मल्लों को लड़ाते हैं, सैकड़ों दर्शक देखने आते हैं, उनमें से बहुत से क्षत विक्षत हो जाते हैं, कभी-कभी मर भी जाते हैं। दर्शक प्रसन्न भी हो जाते हैं, किन्तु इन अपने ही स्वजनों को, सगे ताऊके लड़कों को कुल परिवार के बन्धु बान्धवों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? प्रसन्नता की बात तो दूर रही, हमें दुःख ही होगा, बन्धुबध का पाप पृथक् लगेगा। इनके मारने में केवल पाप ही पाप हाथ लगेगा।

भगवान् ने कहा—बार-बार स्वजन स्वजन की रट लगा रहे हो। यदि अपना ही कोई अंग गल जाय और उससे दूसरे अंगों को क्षति पहुँचने की सभावना हो, तो बुद्धिमान पुरुष उस अपने ही शरीर के सड़े अंग को काट नहीं देते ? यद्यपि य स्वजन हैं, किन्तु हैं तो आततायी। आततायी को अपना अनिष्ट करने के लिये आता देखे तो उसे बिना विचारे तुरन्त मार डालना चाहिये। यह न सोचे कि यह स्वजन है या विजन। आततायी कोई भी क्यों न हो शास्त्रकारों ने उसे वध योग्य ही बताया है। उसे मार डालने पर तनिक भी पाप नहीं लगता। यही नहीं, आततायी को मारना पुण्यप्रद कार्य है।

अर्जुन ने पूछा—आततायी कौन कहलाते हैं ?

भगवान् ने कहा—आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर वध करने को उद्यत, अपने धन का अपहरण करने

वाला. अपनी भूमि पर खेतों पर बलात् अधिकार कर लेने वाला तथा पत्नी का अपहरण करने वाला ये ६ आततायी कहलाते हैं।

अर्जुन ने कहा—तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों को आततायी क्यों बता रहे हैं ?

भगवान ने कहा—देखो, इन ६ में से एक काम भी करने वाले की आततायी संज्ञा है, इन दुर्योधनादि दुष्टों ने एक नहीं ये ६ के छैऊ पाप किये हैं। एक बार ही नहीं बार-बार किये हैं। तुम तो अब स्वजन स्वजन की रट में सब भूल गये, किन्तु मैं तो नहीं भूला हूँ, और जब तक कृष्णा द्रौपदी के बाल खुले हुए हैं तब तक एक क्षण के लिये भी भूल नहीं सकता। अच्छा सुनो! कैसे इन्होंने छेके छैऊ पाप किये हैं।

१—पहिले अग्नि लगाने का ही लो। इन दुष्टों ने जान बूझ कर सम्मति करके अपने विशेष आदमियों को भेजकर लाक्षागृह को बनवाया। लाख राल, सन, तैल, कपूर जो शीघ्र ही आग को पकड़ लें, क्षणभर में प्रज्वलित हो उठें ऐसी वस्तुओं का हमें जलाने के लिये घर बनाया। हमें जलाने के लिये विशेष रूप से वहाँ भेजा गया।

अर्जुन ने कहा—महाराज ! हम जले तो नहीं।

भगवान् बोले—तुम अपने भाग्य से, विदुरजी की बुद्धिमानी से बच गये यह दूसरी बात है इन्होंने तो जलाने में अपनी ओर से कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। जलाने की भावना तो इन की सुदृढ़ थी ही, अच्छे बुरे की भावना ही पाप पुण्य में कारण है। अपनी ओर से तो इन्होंने आग लगाने की पूरी तैयारी कर ही ली थी। अतः ये पापी तो हुए ही।

२—अब दूसरी बात विष देने की। भीम को लड्डुओं में इन्होंने विष खिला ही दिया था, उनके शरीर पर विष का प्रभाव

हो ही गया था। वे भाग्यवश बच गये। इन्होंने तो अपनी ओर से उसे मरा ही समझ कर जल में फेंक दिया था।

३—तीसरे अनेकों वार हाथ में शस्त्र लेकर हमें मारने आये। विराट नगर में ये लड़ने आये ही थे, इस समय भी मारने को उद्यत हैं।

४—चौथे, कपट के जूए में इन्होंने छल से हमारा सर्वस्व अप हरण कर लिया। यहाँ तक कि तुम्हारे वस्त्र भी उतरवा लिये हमें नंगा करके घर से निकाला।

५—पांचवे, जूए में ही तुम्हारा इन लोगों ने राज पाट, भवन, भूमि तथा वाहनादि सभी ले लिये तुम्हें बनवासी बना दिया।

६—छठे इन्होंने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया। अपनी जाँघ की ओर कुत्सित संकेत करके भरी सभा में इन्होंने निर्लज्जता की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया। इनका साला जयद्रथ तो तुम्हारी पत्नी द्रौपदी को वन में से एकान्त पाकर उठा कर ले ही भागा था।

इस प्रकार ये लोग पूरे आततायी हैं, धर्म शास्त्र को यदि तुम मानते हो, तो ये सबके सब वध करने योग्य हैं।

अर्जुन ने कहा—श्यामसुन्दर! एक ओर की ही बात क्यों करते हो। ये पाप अवश्य हैं इन सबको करने वाले ये पापी आततायी भी हैं, किन्तु दयासिन्धो! आप मुख्य बात को भूल जाते हैं। ये हैं तो अपने ही। देखिये एक तो पापिष्ठ होता है, जो अत्यंत पापी होता है उसे पापिष्ठतर कहते हैं और जो सब से बढ़कर पापी होता है वह पापिष्ठतम कहलाता है। स्मृतिकारों ने कुल नाश करने वाले को पापी नहीं कहा-पापिष्ठतर नहीं कहा, उसे पापिष्ठतम बताया है जो अपने ही कुलका नाश करे। महाराज! मेरी दृष्टि में तो सम्पूर्ण बड़े से बड़े पाप एक ओर-ओर

अकेला अपने कुल का नाश रूपी पाप दूसरी ओर। इनमें से समस्त पापों की अपेक्षा में एक कुल पाप को अत्यधिक पाप समझता हूँ। यद्यपि ये लोग पापी अवश्य हैं, आततायी निःसन्देह हैं परन्तु फिर भी हैं तो स्वजन ही। अपने कुल के बन्धु बान्धव हैं। इसलिये प्रभो ! आततायी होने पर भी मैं अपने इन ताऊजी के पुत्रों को नहीं मारूँगा, क्योंकि ये स्वजन हैं अपने बन्धु हैं। इनसे हम कुल परम्परागत प्रेम से बँधे हैं। सम्बन्ध की रज्जु से जकड़े हुए हैं।

भगवान् ने कहा—देखो, अपने सुख के लिये सब कुछ करना पड़ता है। सड़े अंग को इसलिये काट देते हैं कि इतना अंग को काट देने पर शेष अंगों से सुख पूर्वक जीवेंगे। ये दुष्ट सदा ही उपद्रव करते रहते हैं, बात बात पर रोड़ा अटकाते हैं, सुख की नींद सोने नहीं देते। अतः इन्हें मार कर सुखी जीवन व्यतीत करो।

अर्जुन ने कहा—हे माधव ! आप सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, आप तो बृहस्पति तक को ज्ञान दे सकते हैं, किन्तु प्रभो ! सुख तो मन का विषय है। इन विषय भोगों की सामग्रियों में तो सुख है नहीं। हमारे मन में चिन्ता.ग्लानि पश्चात्ताप बना रहे, तो सब सुख विष के समान प्रतीत होते हैं। हमारे सिर के ऊपर खड्ग लटका दिया जाय और छप्पन भोग हमें खाने को कहा जाय तो हाथ से ग्रासों को भले ही मुख में डालते जायँ किन्तु भय ग्लानि और चिन्ता के कारण हमें भोजन में सुख स्वाद नहीं मिलेगा। मान लो इन स्वजनों को मारकर हम अपने गये हुए राज्य को धन वैभव तथा भोग की समस्त सामग्रियों को प्राप्त कर भी लें, तो हमारे मन में खुटका तो सदा लगा ही रहेगा। अरे, हमने ये स्वजनों को मार कर प्राप्त किये हैं। फिर इन कुटुम्बी बन्धुओं का बध करके हम सुखी किस प्रकार हो सकते हैं ?

भगवान् ने कहा—जैसे तुम्हारे ये सम्बन्धी स्वजन हैं, वैसे तुम भी तो उनके सगे सम्बन्धी स्वजन हो। जब वे नहीं सोचते, तो तुम ऐसा विचार क्यों करते हो। ताली तो दोनों हाथों से बजती है, गाड़ी तो दोनों पहियों से चलती है, पक्षी तो दोनों पंखों से उड़ता है। वे नहीं सोचते तुम भी मत विचार करो। जैसे को तैसा बनना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इसका उत्तर जो अर्जुन देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा—

छप्पय

मैं जो बिनती करूँ जनार्दन आप विचारें।
निज ताऊ के पुत्र इन्हें हम कैसे मारें॥
पापी तापी होहिं भले ही स्वजन हमारे।
जैसे तैसे भले बुरे हैं बन्धु विचारे॥
इनकूँ माधव मारिकैं, अंत समय पछितायँगे।
बधि बन्धुनिकूँ वैरवश, कैसे हम सुख पाइँगे॥

ये न भी सोचें हमें तो सोचना ही है।

[२२]

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ३८, ३९ श्लोक)

छप्पय

जदपि लोभवश भये न ये कुल नाश विचारें।
बुद्धि भई विपरीत विचारें बन्धुनि मारें॥
लोभ मोह में फँस्यो चित्त विपरीत करै सब।
कौन मित्र को शत्रु अहित हित सोचै नहिँ तब॥
उभय पाप जगमें प्रबल, सोचत नहिँ जिनचित समल।
लालच वश ही करत नर, मित्र द्रोह अरु नाश कुल॥

जब हृदयमें उदारता के भाव आते हैं, तब मनुष्य बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्यत हो जाता है, बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर देता है। बिना औदार्यभाव के दातृत्व और क्षमा के भाव

---

*अर्जुन कह रहे हैं—हे जनार्दन! यद्यपि ये लोग लोभभ्रष्ट मति होने से कुल के नाश से होने वाले तथा मित्रद्रोह के पापको नहीं देखते, किन्तु कुलक्षय कृत दोष को हम तो जानते हैं, अतः हम लोगों को तो इस पाप से पृथक् होने के लिये विचार करना ही चाहिये।

उत्पन्न होते ही नहीं। उदारता दो प्रकार की होती है, एक तो सम्बन्ध जनित-यह मोह ममता के कारण होती हैं, दूसरी सर्व-भूतहित की भावना से इसमें प्राणिमात्र में उस सर्वान्तर्यामी के दर्शन होते हैं। जिसमें सर्वान्तर्यामी के दर्शन हों, घट घट में उसीको समझ कर त्याग भाव से भोग करने की इच्छा हो, वह तो मोक्ष का कारण है। मोह ममता वश जो त्याग करने की भावना हो, अपने सम्बन्धी के अपराधों को भी अपराध न समझे तो यह त्याग संसार बन्धन को और कसता है, बन्धन को सुदृढ़ करता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अर्जुन ने बड़ी ही सरलता से कहा—श्यामसुन्दर! अच्छा तुम ही बताओ इन अपने सगे सम्बन्धी बन्धुबान्धवों को मारने से क्या लाभ होगा। इस पर भगवान ने पूछा—जो बात तू सोच रहा है उसे उन्हें भी तो सोचना चाहिये।

इस पर अर्जुन ने कहा—महाराज! मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिये, दूसरा करता है या नहीं इसका विचार नहीं करना चाहिये। यदि दोनों ओर से लोग यही सोचें कि वह अपना कर्तव्य पालन करेगा, तब मैं भी करूँगा" तब तो अनर्थ हो जायगा। पति सोचे यदि पत्नी अपने पत्नी पने का निर्वाह करे तब मैं पतिपने का पालन करूँगा। पत्नी सोचे—जब यह यथार्थ एक पत्नीव्रत का पालन करेगा तब मैं पातिव्रत का पालन करूँगी। इसी प्रकार एक बन्धु दूसरे बन्धु से, एक मित्र अपने दूसरे मित्र से, पिता अपने पुत्र से, पुत्र पिता से, माता सुत से, सुत माता से तथा सभी सगे सम्बन्धी परस्पर में अपेक्षा रख कर कर्तव्य का पालन करें तब तो कोई भी कर्तव्य परायण नहीं हो सकता। क्योंकि सब समय सब की बुद्धि एक सी नहीं रहती। कभी न कभी किसी से त्रुटि हो ही जाती है, उसकी त्रुटि को

देखकर हम भी त्रुटि करने लगें, तब तो सब गुड़ गोबर हो जायगा। अतः दूसरे क्या करते हैं, इसका विचार न करके सर्व प्रथम प्राणी को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। मैं मानता हूँ, ये लोग अपने कर्तव्य को नहीं विचार रहे हैं ये हमें अपना भाई अज्ञान वश नहीं समझ रहे हैं, तभी तो शत्रुओं जैसा व्यवहार करने के लिये तत्पर है हमें मारने के लिये अस्त्र शस्त्र लेकर कटिबद्ध हैं। ये अपना कर्तव्य भूल जायँ, हमें तो नहीं भूलना चाहिये।

भगवान् ने पूछा—ये क्यों भूल रहे हैं ? क्या ये नहीं जानते हम दोनों सगे दो भाइयों की ही संताने हैं ?"

अर्जुन ने कहा—जनार्दन ! समस्त पाप का मूल लोभ है। कहावत है "पाप का बाप लोभ है।' जब मनुष्य के हृदय में लोभ आ जाता है। तब वह कर्तव्याकर्तव्य सब भूल जाता है, अपने सभी सम्बन्धों को तिलाञ्जलि दे देता है। इस समय लोभ के कारण इनकी बुद्धिभ्रष्ट हो गयी है। ये लोग मलिन मति होने के कारण यह विचार ने में असमर्थ हैं, कि संसार में जो कुल का नाश और मित्र द्रोह ये दो बड़े भारी पातक हैं, वे इस युद्ध के ही कारण होने वाले हैं। बहुत से राजा दोनों ओर मित्रता वश आये हैं, इनमें द्रोह होगा और जिस ओर की भी विजय होगी उसी को कुल के क्षय का पाप लगेगा।

अच्छा, इनकी मति तो लोभ के कारण मारी गयी है, ये सोचते हैं, इन पांडवों को इनके सहायकों सहित मार कर हम निष्कंटक राज्य के अधिकारी हो जायँगे। इस समय तो इनके मनमें निष्कंटक राज्य की ही लगन है। इसके कारण ये सब कुछ भूल रहे हैं, किन्तु हम तो धर्माधर्म को समझते हैं। हम तो समझ सकते हैं कि यदि इस रण से पराङ्मुख हो जायँगे, तो

दोनों पापों से बच जायँगे। हमारे यह निश्चय करते ही कि चाहे जो हो हम युद्ध न करेंगे, तो हमारे सहायक राजा अपने अपने घर चले जायँगे। उनके सहायकों के सामने जब कोई लड़ने वाला ही न होगा, तो विवश होकर वे भी लौट जायँगे। अब रहे गये हम दोनों पक्ष के स्वजन सो, हममें राज्य के ही कारण कलह हैं, हम राज्य को छोड़ देंगे, तो वे भी हमें न मारेंगे। इससे दोनों ही मित्र द्रोह और स्वजन वध के पापों से मुक्त हो जायँगे। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। हत्या की जड़ तो यह राज्य का लोभ ही है, इसका त्याग हम अपनी उदारता से कर देंगे, इनके अपराधों को हृदय से भूला देंगे तो इसमें दोनों का ही कल्याण है। यदि हम अपनी बात पर अड़े रहेंगे वे भी लोभ वश अड़े रहेंगे, तो कलह होगी, कुलनाश होगा और दोनों ही पाप के भागी होयँ या न हों, हम अवश्य होंगे, क्योंकि हमने जानबूझ कर पाप किया है। जब अपना एक सम्बन्धी किसी बात पर अड़ जाय, तो दूसरे को उस प्रतिद्वन्दिता से हट जाना चाहिये। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने महाराज अंग का है।

धर्मात्मा राजा अंग का लड़का मृत्यु की पुत्री सुनीथा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण बड़ा पापी था। वह वेन के नाम से विख्यात था। पिता पुत्र का स्वभाव विपरीत था। वे धर्मात्मा थे, वेन खलमति दुष्ट स्वभाव का था। महाराज अंग ने उसे बहुत समझाया। पापों से हटाने का बहुत प्रयत्न किया, वह माना ही नहीं। उसने पुत्र ने कर्तव्य का पालन नहीं किया, तब राजा अंगने यह नहीं किया, कि यह पुत्र के कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो ऐसे दुष्ट के साथ मैं भी पिता पने का पालन न करूँ। दोनों में युद्ध होता तो किसी एक का वध होता, उन्हें पाप लगता। यही सोचकर महाराज अंग एक दिन रात्रि में चुपके से उठकर घर से निकल गये। उस समय संघर्ष समाप्त हो गया। न पिता

को पुत्र का वध करके पुत्रहन्ता दोष लगा, न पिता का वध करके उसे पितृहन्ता का दोष लगा। अतः आप विचार कर लें इस युद्ध से पराङ्मुख हो जाने पर दोनों ही पक्षों का कल्याण है।

भगवान् ने कहा—मानलो, कुल का क्षय भी हो जाय, तो नाश तो कौरवों का ही होगा, तुम्हारा विजय तो निश्चित ही है। जिस पक्ष की पराजय होगी उसी का नाश होगा। विजय होने पर राज्य तुम्हें मिल ही जायगा। तुम कुलक्षय दोष के लिये प्रायश्चित्त कर लेना फिर निष्कंट राज्य करना।

इस पर अर्जुन ने कहा—महाराज कुलक्षय से एक ही दोष होता हो, तो उसका प्रायश्चित भी किया जा सकता है, कुलक्षय से तो अनेकों अनर्थों की संभावना है वे ऐसे अनर्थ हैं, जिनका प्रायश्चित्त संभव ही नहीं। इस पाप से तो अनर्थों की एक शृंखला ही चालू हो जायगी, पापों की एक परम्परा ही स्थापित हो जाय गी। क्या क्या अनर्थ हो सकते हैं, इन्हें भी आप सुनलें। इन्हें सुन कर फिर आप जैसा उचित समझें वैसी आज्ञा दें।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इतना कह कर अर्जुन ने कुलक्षय से होने वाले जिन अनर्थों का भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख वर्णन किया। उन्हें मैं आगे वर्णन करूँगा आप दत्त चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

ये तो अंधे भये हमें अन्धे न बनाओ।
बन्धुद्रोह कुल नाश जनार्दन अब न कराओ॥
जानि बूझि के पाप पंक में प्रभु न फँसाओ।
हँसी बहुत है गई जगत् कूँ अब न हँसाओ॥
कहो दयामय कुल जनित, नाश दोष जानत सकल।
तब फिरि जातें हटन हम, करें उपाय न क्यों प्रबल॥

कुलक्षय कृतदोष

[२३]

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुल स्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥*
(श्री भ० गी० १अ० ४०, ४१ श्लो०)

छप्पय

कुलक्षय तें जो दोष तिन्हें अब आपु विचारें ।
निगलें मक्खी नहीं जानि स्वजननि क्यों मारें ॥
नष्ट होहिं कुलधरम सनातन कुलके क्षय तें ।
नसें धरम कुल सकल वंश सनि जावें अघतें ॥
इतने ही प्रभु दोष नहिं, कुलक्षय के जो पाप हैं ।
तिनहिँ गिनाऊँ सो सुने, करता ज्ञाता आप हैं ॥

जो जितना ही अधिक पावन शुचि अथवा पवित्र होता है, वह उतना ही अधिक अपावन बन जाता है । जल को जीवन

---

* अर्जुन कह रहे हैं—हे कृष्ण ! कुलके क्षय से कुलगत सनातन धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नष्ट होने पर समस्त कुल में अत्यधिक पाप फैल जाता है । पाप के फैल जाने पर कुल की जो सच्चरित्रा स्त्रियाँ होती हैं, वे दूषित हो जाती हैं । हे वृष्णिवंसावतंस ! स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर उनकी संताने वर्ण संकर होती हैं ।

बताया है, वह अपावन को भी पावन बना देता है, किन्तु जहाँ स्पर्शास्पर्श का विचार होता है, वहाँ जल ही विशेष कारण बन जाता है, अमुक के हाथ का जल निषेध है, अमुक पकान्न में जल पड़ गया है, अतः वह निखरा नहीं रहा सखरा हो गया।

इसी प्रकार कन्या को रत्न बताया है कन्यारत्न दुष्कुल में भी हो, तो उसको ग्रहण कर लेना चाहिये। वही कन्यारत्न शास्त्र विधि से किसी को अर्पण कर दिया जाता है, किसी की धर्मपत्नी बन जाती है, तो फिर उसकी पवित्रता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। पर पुरुष से उसे सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिये। स्त्री क्षेत्र है, क्षेत्र यदि पवित्र शुचि रहेगा तो उसमें उत्तम बीज उत्पन्न होकर समृद्धि का कारण होगा। यदि बीज उपयुक्त नहीं है, तो क्षेत्र में स्वतः ही विलीन हो जायगा। क्षेत्र तो शुद्ध बना रहेगा। यदि क्षेत्र अशुद्ध है, तो वह अच्छे से अच्छे बीज को भी अपावन व्यर्थ बना देगा, क्षेत्र तो अपावन यही है। क्षेत्र बीज दोनों ही अपावन बन जायँगे। इसीलिये आर्य संस्कृति में महिलाओं की पावनता पर विशेष बल दिया गया है पग पग पर उनकी पावनता के सम्बन्ध में सचेष्ट रहने का आदेश उपदेश शास्त्रों में है। आर्य ललनाओं में पुरुषों की अपेक्षा, सहृदयता, सौहार्द्र, त्याग का भाव, दया दाक्षिण्य विशेष बताये गये हैं। स्त्रियाँ जब त्याग भाव को त्याग कर प्रतिस्पर्धा पर उतर आती हैं तभी उनका पतन होता है। मेरे भाई ऐसा करते हैं। मैं क्यों न करूँ? मेरे पति स्वेच्छाचारी हैं तो मैं स्वेच्छा चारिणी क्यों न बन जाऊँ? पुरुषों को इतने अधिकार हैं, तो स्त्रियाँ इनसे वञ्चित क्यों रखी जायँ। पुरुष हम पर शासन क्यों चलाता है? इस प्रकार के प्रतिस्पर्धा के भाव जहाँ पनपे, वहीं समझो कुल धर्म, वंशपरम्परा की पवित्रता नष्ट हो जायगी।

फिर शुद्ध वर्ण की संतानें न होकर संकर वर्ण की सन्तानें होने लग जायँगी, जिन्हें शास्त्रकारों ने श्रद्धादि शास्त्रीय कर्मों का अनधिकारी बताया है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! कुलक्षय कर्ताओं को कौन कौन से दोष लगते हैं, उनकी परम्परा शृंखला-बताते हुए अर्जुन कह रहे हैं—प्रभो ! कुल के क्षय से सनातन जो कुलधर्म है नष्ट हो जाता है।"

भगवान् ने पूछा—कुल से और सनातन धर्म से क्या सम्बन्ध ? धर्म तो शाश्वत है। कुलक्षय से धर्म नष्ट कैसे हो जायगा ?

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ हैं सब कुछ जान बूझकर पूछ रहे हैं। भगवन् ! यह सत्य है, कि सनातन धर्म तो सदा सर्वदा सभी काल में एक रस रहता है, फिर भी धर्म के अनेकों भेद हैं कुलधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म तथा सभी के मान्यतानुसार धर्म पृथक हैं, किन्तु ये सभी धर्म एक सनातन धर्म की शृंखला में बँधे हुए हैं कुलधर्म जातिधर्म तथा वर्णाश्रमादि धर्मों का पालन इसी अभिप्राय से किया जाता है, कि हम धर्म से च्युत न होने पावें। एक मर्यादा के भीतर आबद्ध रहें। लोग अपने ही वर्ण में अपनी ही जाति में रोटी बेटी का सम्बन्ध इसीलिये करते हैं, कि हमारी मर्यादा बनी रहे हमारे कुल में संकरता तथा व्यभिचार का प्रवेश न होने पावे। जब कोई हमारे कुल का नाश कर देगा, तो युवक तो सब मर ही जायँगे। शेष रह जायँगे बालक वृद्ध और स्त्रियाँ।

बालकों की कोई देख रेख करने वाला न रहेगा, तो वे मन मानी करेंगे। स्त्रियाँ स्वच्छन्द हो जायँगी, तो वे भी स्वेच्छा चारिणी बन जायँगी, लड़के संस्कार हीन बन जायँगे, कुल की मर्यादा का पालन न करेंगे। सूकर कूकर पशुओं

की भाँति जहाँ तहाँ भोजन करने लगेंगे। स्वेच्छानुसार व्यवहार करेंगे। चाहे जिस वर्ण की स्त्री को रख लेंगे। स्त्रियाँ व्यभिचारिणी बन जायँगी। यह परम्परा का सदाचार तो वृद्ध लोगों के जाति के भय से पालन किया जाता है। अथवा धर्म भावना से। एक बार जहाँ पैर ऊँचे नीचे पर पड़ा वहीं मनुष्य गिरने लगता है जैसे मलिन वस्त्र वाला जहाँ मन चाहता है वहीं धूलि में मैले में बैठ जाता है, वह सोचता है कपड़े तो मैले हैं ही और भी मैले हो जायँगे। किन्तु जिनके वस्त्र धुले धुलाये स्वच्छ हैं, पवित्र हैं, वे मैले स्थान में बैठने में हिचकेंगे। यथा शक्ति वहाँ न बैठेंगे। इसी प्रकार जो कुल मर्यादा में बँधे हैं, वे अपने बड़ों के भय से उसमें बँधे रहते हैं। जहाँ बड़ों का भय सिर से हटा वहाँ उन्हें जो अच्छा लगता है, उसे ही करने लगते हैं। सनातन कुल धर्म को प्रनष्ट कर देते हैं। कुलक्षय के हो जाने से ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

धर्म का जहाँ कुल में से नाश हुआ तो पूरे कुल में अधर्म का ही बोल बाला हो जाता है कुल भर के सभी सदस्य पाप पंक में पूर्णरीत्या फँस जाते हैं समस्त वंश के लोग कुलगत परम्परा को तिलाञ्जलि दे देते हैं। इससे होता क्या है, कि स्त्रियों का हृदय अत्यंत ही सुकुमार तथा संवेदन शील होता है, बहुत से लोग उनके प्रति आ आकर सहानुभूति दिखाने लगते हैं उनकी कुछ सहायता करके उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। शनैः शनैः वह सम्बन्ध व्यभिचार के रूप में परिणित हो जाता है। उनके अवैध जारजपुत्र संतानें होने लगती हैं।

पति किसी जाति का स्त्री किसी जाति की। स्त्री किसी वर्ण की पुरुष किसी वर्ण का। उनके संसर्ग से जो सन्तानें होगी वे वर्णसंकर होंगी वह वर्ण संकरता का दोष जिस कुल को वह

नाश करता है उस कुल में, तथा नाश कर्ता के कुल में दोनों ही कुलों में आवेगा।

भगवान् ने कहा—जो कुलक्षय करता है वह तो जीवित ही रहता है, अपनी पत्नियों से ही सम्बन्ध रखता है, तो उस कुल में संकरता कैसे आ जायगी।

अर्जुन ने कहा—जो किसी के कुल का नाश करता है, वह नाश कर्ता कुलक्षय के कारण पातकी महापातकी नीच बन जाता है, ऐसी दशा में वह चाहे अपनी पत्नियों के ही पास बिना प्रायश्चित्त किये जायँ तो उसे भी पाप लगेगा। अपनी पत्नी में भी उत्पन्न होने पर उसकी संतानें वर्णसंकर ही कहलावेंगी। वह भी वर्ण संकरता के दोष से बच नहीं सकता। प्रभो! वर्ण संकरता का दोष साधारण दोष नहीं है। "स एव पापिष्ठ तमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्" वह सबसे बढ़कर पापी है जो कुल का नाश करता है।

भगवान् ने कहा—वर्णसंकर ही संतान हो जाय, तो हानि ही क्या है?

सूतजी कहते—"मुनियो! जब इस प्रकार भगवान् ने संकरता जनित दोषों की जिज्ञासा की तब इसका जो उत्तर अर्जुन ने दिया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब सावधानी के सहित इसे सुनने की कृपा करें।

छप्पय

पाप पंक में फँसे वंश कुल रीति भुलावें।
यदि जावें व्यभिचार नारि नहिँ नेंक लजावें॥
व्यभिचारिनि बनि जायँ बरन संकर सुत होवें।
नारि बनें स्वच्छन्द वंश मरजादा खोवें॥
कुल की शुचिता में प्रभो! नारी ही कारन कही।
नारी यदि दूषित भई, कुलगत सब शुचिता गई॥

वर्ण संकर कारक दोष

[२४]

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ❀

(श्री भ० गी० १ अ० ४२,४३ श्लोक)

छप्पय

व्यभिचारिनि संतान बरनसंकर संतापी ।
उभय कुलनि लैजायँ नरक खल अति ही पापी॥
जिनने कुलको नाश करयो उनके सब कुलकूँ ।
दूषित नारिनि बंश स्वयं अपने निज कुलकूँ॥
श्राद्ध अन्न तिल तरपनहु, संकर नर जो देत हैं ।
पितर रहें बंचित सतत, तिनि करतें नहिँ लेत हैं॥

परलोक को हम साधारण मनुष्यों ने देखा तो नहीं है। त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ मुनियों ने जो परलोकादि अचिन्त्य विषयों के सम्बन्ध में कहा है, उसी पर विश्वास करना पड़ता है।

❀ वर्णसंकर तो अपने कुलको तथा कुल घातियों के कुल को दोनों ही कुलों को नरक में ले जाने के निमित होता है, इनके पितर पतित हो जाते हैं, क्योंकि उनको संकरों का दिया हुआ श्राद्ध तर्पण का अन्न जल नहीं मिलता । इन वर्णशंकर कारक दोषों के कारण कुल घातियों के जो शाश्वत कुल धर्म तथा जाति धर्म हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं ।

मृतक व्यक्ति के वंशज अपने पितरों को जल से तर्पण करते हैं, तिलाञ्जलि देते हैं, श्राद्ध करते हैं, उनके निमित्त ब्राह्मण भोजनादि करते हैं। इससे पितरों की तृप्ति होती है। किन्तु श्राद्ध करने वाला सुपात्र हो, पितरों की वंशपरम्परा का ही व्यक्ति हो। स्मृतिकारों ने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ तक कि कैसे ब्राह्मणों को श्राद्ध में खिलाना चाहिये, कैसे ब्राह्मणों को न खिलाना चाहिये। किस समय श्राद्ध करना चाहिये, किस समय न करना चाहिये। किस देश में श्राद्ध तर्पण शतगुना सहस्त्र गुना हो जाता है, कहाँ पर श्राद्ध निष्फल बन जाता है, श्राद्धकर्ता कैसा होना चाहिये किस कर्ता के हाथ दिये हुए अन्न पानी को पितरगण ले लेते हैं, किसके दिये हुए को वे ग्रहण नहीं करते, अपितु उसका तिरस्कार कर देते हैं, अनिष्ट कर देते हैं। पितरों की तृप्ति से उनकी तृप्ति से कुल की वृद्धि होती है, उनकी अप्रसन्नता से कुलका नाश भी हो जाता है अतः जिन्हें अपने कुलकी अभिवृद्धि अभीष्ट हो, उन्हें देश, काल और पात्र देखकर श्राद्धादि कर्म करने चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! वर्णसंकर सन्तान से इसलोक तथा परलोक में क्या क्या अनर्थ होते हैं। इनका वर्णन करते हुए अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान् से कह रहे हैं—हे श्यामसुन्दर! वर्णसंकर संतान दो कुलों को नरक ले जाती है। एक तो जिन लोगों ने उस कुल का नाश कर दिया हो, जिसकी ये विधवा स्त्रियाँ हों क्योंकि उनकी व्यभिचार में प्रकृति तो इसी कारण हुई कि उनके पति आदि को दूसरे लोगों ने मार डाला है। यदि वे मारते नहीं उनके कुल का नाश न करते, तो संभव है ये स्त्रियाँ दूषित न होतीं। जिनके कारण आदमी पाप में प्रवृत्त होता है, पाप के भागी तो वे लोग भी होते हैं। अतः उन अनाथ

स्त्रिया स अन्य अधम वर्ण के पुरुषों द्वारा जो संतानें होंगी, वे अपने कुल वालों को तो नरक में पहुँचावेंगीही, जिसने उस कुल का नाश किया है उसे भी अधोगति देने में कारण होंगी।

आप कहेंगे—जिन्होंने कुल का नाश किया उन कुल घातियों की तो पाप के कारण अधोगति होना न्याय संगत है, किन्तु जो मर गया, उसका क्या दोष ? वह तो परेच्छा से मारा गया है, उसकी दुर्गति क्यों होगी ?

उसकी दुर्गति होगी, परलोकगत क्रिया कर्म के अभाव के कारण। वेदों का वचन है। 'जो अपुत्री है उसकी गति नहीं होती।''यदि पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, भगवान के चरणों में अहेतुकी भक्ति दृढ़ नहीं हुई है, तो वह परलोक में अपने वंश वालों से श्राद्धतर्पण की अपेक्षा रखेगा। किन्तु उसके कुल में तो कोई शेष रहा नहीं। केवल स्त्रियाँ ही रह गयीं, वे भी व्यभिचारिणी बन गयीं। तब उनका श्राद्ध तर्पण कौन करे ? श्राद्ध तर्पण के अभाव में उनकी अधोगति होगी।

आप कहें कि उनकी स्त्रियों से जो अवैध सन्तानें हुई हैं, वे ही श्राद्ध तर्पण कर सकते हैं ?

वह भी संभव नहीं। एक तो ऐसी अवैध सन्तानों की धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती, यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति भी हो, तो वे श्राद्ध तर्पण के अपात्र हैं संकरवर्ण के व्यक्ति का दिया हुआ श्राद्धान्न तथा तिलतर्पण को पित्तर ग्रहण नहीं करते, क्योंकि यह उस वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में असमर्थ है जिस जाति धर्म अथवा वर्ण धर्म की मर्यादा में जो वंश चल रहा है उसे वर्णसंकर कैसे चला सकता है। घोड़ा घोड़ी के संसर्ग से तो कितनी भी पीढ़ी चलती चलें वंश अक्षुण्ण बना रहेगा, इसी प्रकार गधा और गधी की संतानों को भी समझें।

किन्तु घोड़ा और गधों के संसर्ग से संतान तो हो जायगी किन्तु वह न गधों के वंश को ही अक्षुण्ण रख सकता है, न घोड़े के ही वंश को। यह एक खच्चर तीसरी जाति बन जायगी। इसी प्रकार विलोम अथवा प्रतिलोम संकर जातियों का दिया हुआ पिंड पितरों को नहीं पहुँचता। जिन पितरों को श्राद्ध में पिंड तथा तिल तर्पण का जल न मिलेगा, तो उनकी अधोगति तो होगी ही। इसीलिये जिन पितरों की पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो गयी है, वे पितर पतित होकर नरकमें तो गिरेंगे ही। इसी प्रकार हे प्रभो! हमने इन कौरवों के कुल को नाश कर दिया तो हम नाश करने वाले तो नरक में जायँगे ही, इनके पितर भी श्राद्ध तर्पण न मिलने के कारण अधोगति को प्राप्त होंगे।

अर्जुन कह रहे हैं—सो हे जनार्दन! मैंने आपके सम्मुख ये सब दोष स्पष्ट बता दिये। वर्णसंकर बनाने का दोष तो कुल घातियों को ही लगता है इससे कुलघातियों के भी सनातन कुल धर्म तथा जातिधर्म नष्ट हो जाया करते हैं। हमें जो अधर्म से बचाये हुए हैं वे कुल धर्म तथा जाति धर्म ही हैं। क्षत्रिय लोग बार बार दुहाई दिया करते हैं—हमारे कुल में सदा से चला आ रहा है, जो शरण में आ जाय उसकी रक्षा करें। जो क्षत से रक्षा करे वही क्षत्रिय है। हमारी जाति में कभी हेय कार्य नहीं हुआ। जो कोई जाति धर्म का उल्लंघन करता है, उसे जाति के पंच लोग जाति से बहिष्कृत कर देते थे। कुल धर्म और जाति धर्म की दृढ़ता से रक्षा करने पर ही सनातन धर्म रक्षित रह सकता है। इसके विपरीत करने से सभी मनमानी करने लगेंगे। समाज में विप्लव हो जायगा। लोग परलोक की चिंता न करेंगे, केवल इस शरीर को ही सब कुछ समझकर दिन रात्रि पेट की ही चिन्ता में मग्न रहेंगे। जैसे बने तैसे बिना पाप पुण्य का विचार किये हुए-पेट पालने को ही परम पुरुषार्थ मान लेंगे। पेट भरने को जघन्य

जघन्य पाप करने को उद्यत हो जायँगे। वे अपने आप ही रक के द्वार को खुलवाने का उपक्रम करते रहेंगे। अतः प्रभो...! में अपने कुल धर्म का पालन करना चाहिये, अपने स्वजनों का भी भी वध न करके अपने सिर पर कुल घातियों के पापों को न चढ़ा लेना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन इतना कह कुल धर्म ष्ट होने पर क्या दोष होता है, उसका जो वर्णन करेंगे उसे आगे बताऊँगा।

छप्पय

तिल तरपन तें रहित पितर गति अधमहु पावैं।
संकर कुल के पितर अवसि नरकनिमें जावैं॥
इतने ये सब पाप लगें कुलघातिनि नटवर।
सब अनरथ को मूल बरनसंकर अघदुष्कर॥
इन दोषनिके मूल कुल-घाती ही कहलात हैं।
उनके सब कुलधरम अरु, जाति धरम नसि जात हैं॥

अहो! हम महा पाप करने को उद्यत हैं!

[२५]

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥*

(श्री भ० गी० १ अ० ४४, ४५ श्लो०)

छप्पय

जाति धरम कुल धरम नष्ट जिनि को ह्वै जावैं।
ते नर निश्चय नरक माँहि बहु समय वितावैं ॥
ऐसी शास्त्रनि सुनी वृद्ध ऋषिमुनि मुख बानी ।
अधिक कहाँ तक कहूँ आपु ज्ञानी विज्ञानी ॥
कुल में संकरता करन, निजकुल नाश करावनो ।
अपने तीखे अस्त्र तैं, अपनो नाश करावनो ॥

नास्तिक लोगों का कहना है, कि स्वर्ग नरक कुछ नहीं है जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है, जिस देह से हमने कर्म किये हैं, वह तो

---

*अर्जुन कह रहे हैं—हे जनार्दन ! हम ऐसा सुनते आये हैं, कि जिन मनुष्यों का कुल धर्म नष्ट हो गया है, उनका अनिश्चित समय तक नरक में वास होता है । हाय ! बड़े दुःख की बात है,हम लोग बुद्धिमान होकर भी ऐसा महान् पाप करने जा रहे हैं, जो राज्य सुखके लोभ से अपने स्वजनों को ही मारने को उद्यत हो रहे हैं ।

भस्म हो जाता है, फिर उसका पुनर्जन्म कैसे होगा ? अतः परलोक की चिंता न करो, खाओ पीओ आनन्द करो। यदि आँखों देखा ही सत्य होता तो हमें आँखों से तो अपनी पीठ भी नहीं दीखती आँखों से आँखें ही नहीं दिखायी देती। तो क्या हमारे पीठ या आखें नहीं हैं। आप कहोगे हम दर्पणमें देख लेते हैं। दूसरों के आँख पीठ है, तो हमारे भी होंगी। तब यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण न होकर अनुमान ही हुआ। जब आप अनुमान को मानते हैं, तो आप्त वाक्य ऋषियों के वाक्यों को भी प्रमाण मानिये। सभी शास्त्र स्वर में स्वर मिलाकर उद्घोष कर रहे हैं। आत्मा अमर है, जीव नित्य है शरीर के नष्ट होने पर जीव अन्य योनियों में प्रवेश करके अपने पूर्वकृत कर्मो का फल भोगता है।

मरने पर हमारे शरीरों की चार प्रकार से क्रियायें की जाती हैं। (१) कुछ लोगों को भूमि में गाड़ देते हैं। जैसे अजात दन्त बालक, कुष्टी तथा जहाँ नदियाँ न हों वहाँ संन्यासियों के मृत देह भूमिमें गाड़े जाते हैं। (२) साधु संन्यासियोंके असमर्थ व्यक्तियों के देह जल में प्रवाहित कर दिये जाते हैं। (३) गृहस्थियों के जलाये जाते हैं तथा (४) कुछ लोगों के मृत शरीर बन में पेड़ों पर या इसीके निमित्त बने मंचों पर लटका दिये जाते हैं उन्हें पक्षी खा जाते हैं। इसीलिये इस शरीर की तीन ही गतियाँ बतायीं हैं कृमि, विट् और भस्म ! भूमि में गाड़ देने से कीड़े बन जाते हैं। पेड़ पर लटका देने से, जल में प्रवाहित करने से पशु पक्षी खाकर विष्ठा बना देते हैं तथा अग्नि में जला देने से भस्म हो जाती है। देह तो यों समाप्त हुई। जिनको पूर्ण ज्ञान हो गया है, सम्पूर्ण चराचर में व्याप्त एक ही आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, वे जन्म मरण से छूटकर सर्वान्तर्यामी भी बन जाते हैं। जिन्हें भक्ति द्वारा भगवत् तत्व का साक्षात्कार हो चुका है,

वे सदा के लिये भगवत लोक में पहुँच जाते हैं। शेष सब पितर बन जाते हैं। पितरों की तीन ही गति हैं या तो वे शुभ कर्मों के कारण स्वर्गादि पुण्य लोकों में चले जाते हैं, अथवा पापकर्मों के कारण नरक भेज दिये जाते हैं अथवा दोनों सम होने के कारण फिर से यहीं पृथिवी पर अन्य योनियों में भेज दिये जाते हैं। यह सम्पूर्ण संसार सहयोग पर ही स्थित है। जिन पूर्वजों से थाती रूप में हमें यह शरीर मिला है, वे हमारे पितर हमसे श्राद्ध तथा तर्पण की आशा लगाये रहते हैं। हमारा दिया हुआ तर्पण का जल श्राद्ध का अन्न वे जिस योनि में भी जहाँ भी होंगे उनका आहार बनकर उन्हें मिल जायगा। यदि वे स्वर्ग में होंगे तो वह अमृत बनकर उन्हें मिलेगा, यदि वे पशु होंगे तो दाने घास के रूप में उन्हें मिल जायगा। नरक में होंगे, तो उनकी नारकीय यातना कम हो जायगी। संतानों के सुकृत के कारण वे नारकीय योनि से छूट जायगे। किन्तु जिनके कुल में कोई भी न होगा, या वर्णसंकर होंगे, तो वे श्राद्ध तर्पण से रहित होने के कारण यदि नरक में रहे तो चिरकाल तक नरकों में ही सड़ते रहेंगे। इस कारण गृहस्थियों को न तो किसी के वंश का मूलोच्छेदन करना चाहिये और न अपने ही वंश को वंश हीन होने देना चाहिये। यही पितृ ऋण से उऋण होने का तात्पर्य है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अर्जुन अपने सारथी श्रीश्याम सुन्दर से कह रहे हैं—हे जनार्दन! जातिधर्म और कुलधर्म मनुष्यों को पाप से बचाने के सुदृढ़ कवच हैं। बहुत से पापों से पुरुष जाति बन्धुओं के भय से बच जाता है। बहुत से पाप कुल के भय से नहीं करता। अरे, हम कुलीन हैं, उत्तम कुल में हमारा जन्म हुआ है, ऐसे पापकर्म को करेंगे तो हमारे कुल में कलंक लग जायगा, लोग थूकेंगे। छिः छिः करेंगे, कहेंगे—"अरे, इसने तो अपने सम्पूर्ण कुल को ही डुबो दिया।

जिनका कुल धर्म नष्ट हो गया है, वे निरन्तर नरकों में ही सड़ते रहते हैं । यदि उन्हें अपनी सन्तानों से अपने वंशजों से कुछ सहायता मिलें, उनके नाम से श्राद्ध, तर्पण दान पुण्य तथा सत्कर्म करते रहें, तो चाहें नरक में भी क्यों न हों, वहाँ भी उनकी यातनायें कम हो जायँगी और शीघ्र ही वंशजों के पुण्य प्रभाव से उन्हें नरक से छुटकारा मिल जायगा, किन्तु जब इस कर्म भूमि से ही उन्हें कुछ सहारा न मिलेगा, तो नरक और स्वर्ग की योनियाँ तो भोगयोनि हैं । वहाँ कोई नये कर्म तो किये नहीं जा सकते । उनके तो शुभाशुभ कर्म भोग से ही नष्ट होंगे, अतः वे अनिश्चित काल तक नरक में बने रहेंगे ।

ये बातें मैं अपने आप नहीं कह रहा हूँ । बाल्यकाल से जो हमारे यहाँ ज्ञानी विज्ञानी त्रिकालदर्शी ऋषि मुनि आते रहते थे, उनके श्रीमुख से मैंने अनेक बार ये बातें सुनी हैं । भगवान ने बड़ी कृपा की जो मुझे समय पर ही यह सद्बुद्धि आ गयी । तनिक भी देर हो जाती तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाता अपने ही हाथों अपने कुल का नाश कराना पड़ता । कुलनाश के महापाप के हम सदा सर्वदा के लिये पापी घोषित किये जाते ।

प्रभो ! मैं इस आपसी युद्ध के परिणाम को ज्यों ज्यों सोचता हूँ, त्यों त्यों मेरी मेरी बुद्धि चकराने लगती है । कैसा अनर्थ करने के लिये हम उद्यत हो गये थे ? हाय ! कैसा पाप ! कैसा अनर्थ ! कितना जघन्य कृत्य हमारे द्वारा होने जा रहा था । वह भी अज्ञान में नहीं जानबूझकर । वह भी मूर्खता वश नहीं बुद्धिमत्ता के साथ । हम बनते तो हैं बड़े भारी बुद्धिमान, किन्तु कार्य करने जा रहे हैं, महामूर्खों जैसा ।

भगवान् ने पूछा—मूर्खों जैसा कार्य क्या ?

अर्जुन बोले—यही कि हम अपने सगे सम्बन्धी स्वजनों का वध करने को उनकी निरपराध हत्या करने को समुद्यत हैं । सो

भी एक तुच्छ सी वस्तु राज्य प्राप्ति के लिये।

राज्य में रखा ही क्या है। राज्य समस्त अनर्थों की जड़ है। राजनैतिक पुरुष कभी चैन से सुख से बैठ नहीं सकता। उसे सदा सर्वदा यही खुटका लगा रहता है, कोई मेरे पद को छीन न ले। कोई मुझे पदच्युत न कर दे। उसे दबाओ, इसे मरवाओ, इसे इतना दबा दो कि सांस न ले। इन्हीं सब वातों के चिन्तन में उसका सम्पूर्ण समय जाता है केवल इसलिये कि राज्य हाथ में रहने से अच्छे अच्छे पदार्थ खाने को मिलेंगे, अच्छे अच्छे भोग भोगने को मिलेंगे। सुन्दर सुन्दर वाहन चढ़ने को मिलेंगे। सुन्दर स्वच्छ सुखद भवन रहने को मिलेंगे इन्हीं भोगों की लालसा के पद प्रतिष्ठा के लोभ से राजनैतिक पुरुष बड़े से बड़ा पाप करने को उद्यत हो जाते हैं। हमीं को देखो दुर्योधन ने हमारा कौन सा अनिष्ट किया है। पेट तो हम वन में भी भर लेते थे। अंतर इतना ही था, कि वहाँ राजसी ठाठ नहीं थे, सुन्दर सुन्दर गुदगुदे गद्दे बिछाने को नहीं थे। शीघ्र गामी वाहन चढ़ने को नहीं थे। उन्हें ही प्राप्त करने के लिये हम अपने स्वजनों की हत्या करने जा रहे हैं। ऐसा पाप मैं नहीं करूँगा, नहीं करूँगा अपने स्वजनों को नहीं मारूँगा नहीं मारूँगा। मैं चाहे जो हो जाय शस्त्र नहीं चलाऊँगा नहीं चला जाऊँगा।

यह सुनकर भगवान् मंदमन्द मुसकराने लगे और फिर बहुत ही गंभीर वाणी में बोले—अरे भाई! मान लो, तुम शस्त्र न भी चलाओ तो तुम्हारे ये शत्रु तो नहीं ही मानेंगे। तुम चाहे शस्त्र चलाओ या न चलाओ, तुम युद्ध करो या न करो। ये मानने वाले थोड़े ही हैं, ये बिना शस्त्र चलाये रहेंगे नहीं। ये बिना युद्ध किये मानेंगे नहीं, फिर तुम्हें क्षत्रिय की मौत न मरकर कुत्ते की मौत मरना पड़ेगा। इससे लाभ ही क्या

हुआ तुमने इन्हें न मारा तुम्हें उन सब ने मिलकर शस्त्र रहित और अप्रतीकार कारक मानकर मार डाला। बात तो एक ही हुई।

सूतजी कहते हैं—मुनियों ! भगवान् की इस तर्क का जो अर्जुन ने उत्तर दिया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

'हाय ! शोक ! अति शोक ! बनें हम बुद्धिमान नर।
करिबे कुल संहार शस्त्र बाँधे रन तत् पर ॥
महापाप यह करें स्वजन कुल बन्धु नसावें।
अनरथ करें महान् तऊ नहिं नैंक लजावें ॥
राज और सुख लोभ तें, सम्बन्धिनि मरवाइकें।
हाथ रँगावें रक्त तें, अपनो कुल कटवाइकें ॥

चाहे जो हो मैं युद्ध नहीं करूँगा

[२६]

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
संजय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥*
(श्री भ० गी० १ अ० ४६,४७ श्लो०)

छप्पय

आपु कहैं—निःशस्त्र समुझि ये तोकूँ मारैं ।
करै नहीं प्रतिकार सुगमतातैं संहारैं ॥
तो अति उत्तम बात न जातैं हौं घबराऊँ ।
कियो मानसिक पाप तुरत ताको फल पाऊँ ॥
सब कौरव कर शस्त्रलै, मोकूँ मारैं यदि अबहिँ ।
होवै मम कल्यान अति, जगत सराहै सब तबहिँ ॥

वैराग्य उसी का नाम है जिससे अपनी देह में तथा देह से

---

*अर्जुन कह रहे हैं—"भगवान् ! यदि ये धृतराष्ट्र के पुत्र मुझे रण में मार भी डालें और मैं शस्त्र रहित बिना प्रतिकार किये उनके आघातों को सहते हुए मर जाऊँ, तो मेरे लिये यह अधिक क्षेमकारी होगा । धृतराष्ट्र से संजय कह रहे हैं—राजन् ! ऐसा कहकर रणभूमि में शोक से जिसका मन उद्विग्न हो गया है ऐसा अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ के ऊपर बैठ गया ।

सम्बन्धि गृह धनादि में आसक्ति न रह जाय। यह वैराग्य चाहे क्षणिक हो अथवा मोह जनित ही क्यों न हो। उसमें सर्वस्व त्याग की भावना सन्निहित रहती है। जिस पक्ष को हम उचित समझते हैं, उसके लिये मनस्वी पुरुष प्राणों की आहुति देने को भी तत्पर हो जाते हैं। सिद्धान्त के लिये प्राणों को तृणवत् समझ कर अपनी बात पर मर मिटते हैं। ऐसा न होता तो असंख्यों व्यक्ति देश तथा धर्म के नाम पर हँसते हँसते सूली फाँसी पर क्यों चढ़ जाते? अपने प्राणों को तृणवत् समझकर सिद्धान्त पर उसे न्यौछावर क्यों कर देते? कभी कभी हम मोहवश अज्ञानवश विपरीत बात पर भी अड़जाते हैं किन्तु जो हमारे गुरुजन हैं। हितैषी हैं शुभ चिन्तक हैं वे अपने सदपदेशों के द्वारा हमारे मोह को नष्ट कर देते हैं, हमें कुपथ से हटाकर सुपथपर ले आते हैं। जिसे हम सत्य मान रहे थे उसे उनके उपदेशों से असत् मानने लगते हैं, हमारा मोह दूर हो जाता है। पहिले तो हम उसके पक्षमें ऐसे ऐसे अकाट्य तर्क उपस्थित करते हैं, कि उनके कारण हमें स्वयं ही अपने कथन पर गर्व होने लगता है, किन्तु मोह निर्मित यह बालू की भीत कैदिन टिकाऊ रह सकती है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब भगवान् ने कहा—कौरव लोग तुझे मार डालेंगे, इसके उत्तर में अर्जुन ने कहा—महाराज यदि कौरव मुझे मार भी डालें तो इसमें मेरा सबसे बढ़कर कल्याण होगा।

भगवान् ने कहा—कल्याण क्या होगा जी।

अर्जुन बोले—मैंने अपने कुल का वध करने का मन से संकल्प किया था, चाहे उसे कार्य रूप में परिणित न किया हो, किन्तु मानसिक पाप तो हो ही गया। यदि कौरव मुझ शस्त्र हीन को सब मिलकर मार भी देंगे तो मेरेमानसिक पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा।

भगवान् ने पूछा—जब वे सब तुम्हें मारने आवेंगे, तो तुम क्या करोगे ?

अर्जुन ने कहा—वे सब अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर भले ही आवें, किन्तु मैं शस्त्र कभी न उठाऊँगा।

भगवान् ने पूछा—शस्त्र भले ही न उठाओ किन्तु हाथ से वाणी से तथा अन्यान्य संकेतों द्वारा प्रतीकार तो करोगे ही।

अर्जुन ने कहा—माधव ! न तो मैं शस्त्र उठाऊँगा और न उनके प्रहारों का प्रतीकार ही करूँगा। केवल उनके प्रहारों को सहता रहूँगा और तब तक सहता रहूँगा जब तक मेरा शरीर निर्जीव होकर भूमि पर न गिर पड़े। प्राणहीन होकर धराशायी न बन जाय।

संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं—राजन् ! इस प्रकार युद्ध न करने का अर्जुन पूर्ण निश्चय करके चुप हो गया। अब तक तो वह सेना का अवलोकन करने के निमित्त सारथी के आसन के समीप खड़ा खड़ा दोनों सेनाओं को देख रहा था। अब जब रण भूमि में दोनों सेनाओं के मध्य में उसने ऐसा निश्चय कर लिया तो चुप चाप वहाँ से उठकर रथ के ऊपर-रथी के स्थान पर जाकर बैठ गया।

शौनकजी ने पूछा—रथोपस्थ-रथके ऊपर बैठ गया इसका क्या तात्पर्य है सूतजी !

सूतजी बोले—महाराज ! युद्ध के रथ ऐसे होते थे, जिन में ऊपर तो रथी बैठता था ऊँचे स्थान पर। उसके पीछे बड़ी ध्वजा जिसमें लगी रहती वह डंडा खड़ा रहता था। रथ के पीछे एक गाड़ी और लगी रहता थी। उसमें अस्त्र शस्त्र, धनुष और बाण भरे रहते थे। रथी का धनुष टूट गया तो तुरन्त सेवक दूसरा धनुष दे देता, बाण चुक जाते तुरन्त बाण दे देता। बल्लम, फरसा, तलवार,गदा तथा और भी जिस शस्त्र का संकेत करता

कसे दे दिये जाते। उसके तीनों ओर अंग रक्षक खड़े रहते थे। वे भी रथी के ऊपर होने वाले प्रहारों को रोकते थे। रथ के पहियों के रक्षक पृथक् रहते, कि कोई पहियों को न तोड़ दे। रथी के नीचे घोड़ों की रस्सी और तोत्र लिये सारथी इतने नीचे स्थान पर बैठता जहाँ रथी के दोनों पैर उसकी कनपुटी तक पहुँच जायँ। रथी के दोनों अंगूठे सारथी की कनपुटी से सटे रहते। जब जिधर रथ मोड़ना होता, तब मुंह से न कहकर पैरों के अंगूठों से कनपुटी को मोड़कर संकेत कर देता इधर रथ को ले चलो। अर्जुन के अंगूठे निरन्तर श्यामसुन्दर की कनपुटियों पर सटे रहते जिनसे भगवान् की दोनों कनपुटियों में गढ्ढे पड़ गये थे। अर्जुन अब तक तो श्यामसुन्दर के समीप सारथी के स्थान में नीचे खड़े थे। अब धनुष को बाणों सहित पटक कर शोक से उद्विग्न होकर रथी के ऊपर के स्थान में खड़े नहीं हुए, धम्म से गिर पड़े और उदास मन से कपोल पर हथेली टेक कर शोकाकुल बने बैठ गये।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! इस प्रकार ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् कहकर इस गीता का प्रथम अध्याय समाप्त हो गया।

शौनकजी ने पूछा—सूतजी ! राम गीता, उत्तर गीता, ऐल गीता आदि अनेकों गीतायें हैं आप का अभिप्राय किस गीता से है ?

सूतजी ने कहा— महाराज ! मैं तो श्री आनन्द कन्द ब्रज चन्द्र नन्दनन्दन वासुदेव पद्मनाभ के श्री मुख से निसृत श्रीमद् भगवत् गीता की कथा आप को सुना रहा हूँ।

यह गीता है क्या, समस्त उपनिषदों का सार है यद्यपि यह स्वयं भी उपनिषद् है जैसे चीनी स्वयं भी मिठाई है गन्ना, रस राब गुड़ मीठे होने से मिठाई कहलाते हैं। फिर भी इन सब का सार मिश्री ही है। इसी प्रकार यह उपनिषदों का सारातिसार है।

संसार में विद्या तो बहुत प्रकार की हैं, किन्तु यह तो विशुद्ध ब्रह्म विद्या है। यह योग का शास्त्र है। अनेक प्रकार के योगों का इसमें वर्णन हैं। इसलिये यह योग शास्त्र है। इसमें नारायण स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर और नर स्वरूप अर्जुन का सुखद सरल सम्वाद है। इस अध्याय में केवल अर्जुन के विषाद का ही वर्णन है अतः इसका नाम 'अर्जुन विषाद योग, यही रखा है। प्रथम अध्याय तो है ही अब यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद् भगवत् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे श्रीकृष्णार्जु न संवादेऽर्जु न विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः १॥

छप्पय

संजय बोले-नृपति ! सुनहु यों अरजुन दुःखित ।
शोक मगन अति भयो विचारैं ह्वैकें चिंतित ॥
बान सहित धनु त्यागि युद्धतें विरत भयोतब ।
मनमहँ अति पछताव भरे आँसू नैननिजब ॥
प्रथम सारथि के निकट, ठाढ़ो है निरखत सबनि ।
अब शर धनु तजि रथी थल, बैठ्यो बिलखत विकल बनि॥